समकालीन दर्शन

समकालीन दर्शन

(CONTEMPORARY PHILOSOPHY)

जयदेव सिंह
अवकाश-प्राप्त प्रधानाचार्य, युवराजदत्त पोस्टग्रेजुएट कालेज
लखीमपुर-खीरी (उत्तर प्रदेश)

विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०
नई दिल्ली बम्बई बंगलोर कलकत्ता कानपुर

भूमिका

समकालीन दर्शन मे कुछ 19वीं शती और विशेषकर 20वीं शती के चिन्तको के दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ इस ढग से लिखा गया है कि इसका दर्शन के विद्यार्थी और साधारण पाठक दोनो उपयोग कर सके। इसमे केवल पाश्चात्य दार्शनिको के मत नही दिये गये हैं, मुख्य भारतीय दार्शनिको के भी मत सम्मिलित किये गये है।

19-20वी शती मे पाश्चात्य दार्शनिको की चिन्तन धाराए निम्न प्रकार की रही हैं।

कार्ल मार्क्स ने अपना दर्शन भौतिकवाद पर प्रतिष्ठित किया था और उसका उपयोग उन्होने विशेष रूप से आर्थिक व्यवस्था के लिए किया। उन्ही से प्रभावित होकर कुछ यूरोप के और कुछ इने गिने एशिया के देशो ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था साम्यवाद के आधार पर स्थापित की।

ब्रिटेन, अमरीका और इटली मे कुछ चिन्तको ने चिद्वाद की एक नये ढंग से स्थापना की।

तार्कीय निश्चितवाद ने एक नया ढग अपनाया। उनकी यह स्थापना है कि मानव के लिए तत्त्वज्ञान असम्भव है। तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उपस्थापनाए अर्थहीन है। दर्शन का मुख्य कार्य है तत्त्वज्ञान सम्बन्धी भाषा का विश्लेषण।

कुछ दार्शनिको ने विवर्तन के आधार पर चिन्तन प्रारम्भ किया। इसके आधार पर बर्गसाँ ने सर्जनात्मक विवर्तन का प्रतिपादन किया, और इसी आधार पर लायड मार्गन और अलेक्जैण्डर ने उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन की उपस्थापना की।

ह्वाइटहेड ने विज्ञान के आधार पर यह स्थापित किया है कि सत् एक प्रक्रम है।

एक दूसरी चिन्तनधारा अस्तित्ववादियो की प्रारम्भ हुई जिसने व्यक्ति के अनुभव और उसके अस्तित्व पर अधिक बल दिया है।

व्यवहारवादियो ने सत्य की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। भारतीय

चिन्तकों मे श्री के० सी० भट्टाचार्य ने वेदान्त और हीगल के चिद्वाद के आधार पर निर्विशेष, निर्विकल्प परमतत्त्व की एक नये ढग से व्याख्या की है। डा० भगवानदास ने ओम् की एक नये ढग से व्याख्या प्रस्तुत की है। डा० राधाकृष्णन् उपनिषद् से विशेष रूप से प्रभावित थे। उन्होंने ईश्वर की एक विशद व्याख्या की है और भूतवस्तु, जीवन, चित्त-चेतना और आत्मचेतना मे अन्तर दिखलाते हुए यह सिद्ध किया है कि धार्मिक चेतना मे ही जीव का सर्वोत्कृष्ट विकास होता है।

डा० गोपीनाथ कविराज उपनिषद और विशेष रूप से तन्त्र, शैवागम और शाक्तमत से प्रभावित थे। उन्होंने मानव के विवर्तन मे भगवद्भाव की प्राप्ति को उच्च स्थान दिया है और विवेक मार्ग और योगमार्ग का अन्तर दिखलाते हुए यह बताया है कि योगमार्ग विवेकमार्ग से उच्चतर है।

श्री अरविन्द घोष का स्थान ससार भर के चिन्तकों मे अपूर्व है। उन्होंने विवर्तन का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया है। उनका सिद्धान्त है कि मानव मे विवर्तन की इति नही हो गयी है। मानव को अतिमानव होना है और पृथ्वी पर एक नये दिव्य जीवन का प्रादुर्भाव होने वाला है।

डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी कविसुलभ प्रतिभा के आधार पर विश्व के ब्रह्ममय रूप का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है और जीवन और समाज के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया है।

महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे प्रयोग का उदाहरण विश्व के सम्मुख रखा है।

इस प्रकार पाश्चात्य और भारतीय चिन्तनधारा का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया गया है। इसको ऐसी सुबोध भाषा मे लिखा गया है कि प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति इसे समझ सकता है। आशा है यह ग्रन्थ दर्शन के विद्यार्थी और सुरुचिपूर्ण साधारण पाठक दोनो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

जयदेव सिंह

विषय-सूची

अध्याय 1

तार्कीय निश्चितवाद
(LOGICAL POSITIVISM)

[तार्कीय निश्चितवाद का प्रारम्भ, अर्थ की अवधारणा—विटगेन्श्टाइन का मत, दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य, कार्नप का तार्कीय अनुभववाद; ए० जे० आयर का तार्कीय निश्चितवाद; समीक्षा ।]

तार्कीय निश्चितवाद का प्रारम्भ

आधुनिक चिन्तन मे तार्कीय निश्चितवाद (logical positivism) का एक अनुपेक्षणीय स्थान है। इसे कभी-कभी तार्कीय अनुभववाद (logical empiricism) भी कहते हैं। इस वाद मे ह्यूम के अनुभववाद, कोंत के निश्चितवाद, कैम्ब्रिज मे मूर, रसेल, विटगेन्श्टाइन और ह्वाइटहेड द्वारा और यूरोप मे फ्रेग इत्यादि द्वारा उपस्थापित तार्कीय विश्लेषण का विचित्र सम्मिश्रण है।

वियना तार्कीय निश्चितवाद का मुख्य केन्द्र था। ईसवी शती 1928 मे वियना मे कुछ चिन्तकों का एक समुदाय था जो अनुभव, तर्क और प्रत्यक्ष पर बहुत बल देता था। इस समुदाय के प्रधान सदस्य मारित्स श्लिक (Moritz Schlick), आटो न्यूरथ और रुडल्फ कार्नप थे। यह दार्शनिक समुदाय 'वियना केन्द्र' (Viennese Circle) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह चिन्तनविधा प्राग, वारसा इत्यादि स्थानों मे फैली। हान्स राइखेनबाख (Reickenbacle) ने बर्लिन में इसका एक केन्द्र स्थापित किया। आक्सफोर्ड मे ए० जे० आयर इसके कट्टर प्रतिपादक हुए। अमेरिका मे सी० डब्ल्यू० मारिस इसके समर्थक हुए। पीछे राजनीतिक कारणों से रुडल्फ कार्नप और आटो न्यूरथ अमेरिका पहुचे और वहा इस वाद

का प्रचार करने लग गये।

वियना केन्द्र के सामने दो मुख्य उद्देश्य थे : (1) विज्ञान के लिए दृढ़ आधार स्थापित करना, और (2) तत्त्वज्ञान की अर्थहीनता सिद्ध करना। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो पद्धति अपनायी गयी वह थी तार्कीय विश्लेषण, विशेषकर भाषा का तार्कीय विश्लेषण।

यह पद्धति ह्यूम के अनुभववाद और कोंत इत्यादि के निश्चितवाद से भिन्न थी। ह्यूम का अनुभववाद अनुभव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर प्रतिष्ठित था, वियना केन्द्र का अनुभववाद अनुभव के तार्कीय विश्लेषण पर प्रतिष्ठित था। पहले के निश्चितवादी तत्त्वज्ञान की मीमांसा इसलिए व्यर्थ समझते थे क्योंकि उनकी धारणा थी कि तत्त्वज्ञान से मानव को कोई लाभ नहीं और उसके तथ्य सिद्ध नहीं किये जा सकते। आधुनिक निश्चितवादियों का यह मत है कि तत्त्वज्ञान सम्बन्धी भाषा का तार्कीय विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि तत्त्वज्ञान सम्बन्धी उपस्थापनाएं (propositions) ही अर्थहीन हैं। आधुनिक निश्चितवादी तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों को ही निरर्थक घोषित कर अपसारित कर देता है।

तार्कीय निश्चितवाद अथवा प्रत्यक्षवाद की चार मुख्य धारणाएं हैं :

1. तत्त्वज्ञान (metaphysics, philosophy) की उपस्थापनाएं अर्थहीन हैं। अत. तत्त्वज्ञान या दर्शन एक व्यर्थ क्रिया है।

2. प्रत्ययों की यथार्थता जानने के लिए उनका तार्किक विश्लेषण (logical analysis) नितान्त आवश्यक है।

3. ज्ञान प्राप्त करने के तर्कशास्त्र, गणित और वैज्ञानिक प्रक्रिया ही यथार्थ साधन हैं।

4. मानव जीवन के इष्ट (values) स्वयं मानव द्वारा निर्धारित हुए हैं।

अर्थ की अवधारणा
(Conception of Meaning)

तार्कीय निश्चितवाद की तत्त्वज्ञान विरोधी अभिवृत्ति (attitude) को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसकी अर्थ की अवधारणा को जान लें।

इस विचारधारा के मुख्य प्रतिपादक लुड्विग विटगेन्श्टाइन (1889-1951) थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ट्राक्टस लाजिको-फिलासाफिकस में भाषा और अनुभव का तार्कीय विश्लेषण किया है। यही विश्लेषण तार्कीय निश्चितवाद का मूल आधार है।

विटगेन्श्टाइन की धारणा है कि भाषा अनुभूत तथ्यों का प्रतीकात्मक निरूपण (symbolic representation) है। भाषा के विश्लेषण से पता चलता है कि

उसमे अर्थपूर्ण उक्तियां होती हैं जिन्हें हम उपस्थापनाएं (propositions) कहते हैं। इन उपस्थापनाओं के विश्लेपण से हमें अन्य मौलिक प्रारम्भिक छोटी-छोटी उपस्थापनाए मिलती है। प्रत्येक मौलिक प्रारम्भिक उपस्थापना किसी अनुभूत परमाणवीय तथ्य का चित्र है। विश्व ऐसे ही छोटे-छोटे तथ्यो का पुञ्ज है। तथ्य का तात्पर्य है विशेप स्थिति, जो कि उपस्थापना को सत्य सिद्ध करती है। 'यह पुस्तक नीली है'—यह उपस्थापना तभी सत्य सिद्ध होगी जब कि वास्तव मे हमने नीली पुस्तक का अनुभव किया हो।

किसी भी उपस्थापना की संरचना और वास्तव तथ्य में सहसम्बन्ध (correlation) होता है। भाषा का प्रत्येक चित्र वास्तविकता का प्रतिरूप होता है और चित्र के भिन्न-भिन्न अंश विश्व की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का निरूपण करते हैं। भाषा-चित्र और वास्तविकता में समरूपता विद्यमान है। जब भाषा विश्व की घटनाओं का यथार्थ निरूपण नही कर पाती, तब उसे विरूपित (distorted) समझना चाहिए। विरूपित या विकृत भाषा अर्थहीन होती है क्योकि वह तथ्यों का विकृत रूप प्रस्तुत करती है। वे ही उपस्थापनाएं यथार्थ हैं जो विश्व के वास्तविक तथ्यों का निरूपण करती हैं।

विटगेन्स्टाइन का कहना है कि वस्तु और तथ्य में थोड़ा अन्तर है। फूल एक वस्तु है। गुलदस्ता भी एक वस्तु है। किन्तु फूलों का एक गुलदस्ते मे होना एक तथ्य है। इस तथ्य के विपय मे कुछ कहना एक तार्किक चित्र (logical picture) बनाना है। तथ्य और तार्किक चित्र में एक स्पष्ट सहसम्बन्ध पाया जाता है।

सारा जगत् तथ्यों द्वारा बना हुआ है, वस्तुओ द्वारा नही। जिस तथ्य के विश्लेपण करने पर हम एक ऐसी स्थिति में पहुंचते हैं जहा अब आगे कोई अंश नही मिलता उसे हम परमाणविक तथ्य (atomic fact) कह सकते हैं। हम तथ्यों को चित्र की भाषा कह सकते हैं। एक चित्र या तो किसी वास्तव अथवा किसी सम्भाव्य तथ्य (actual or possible fact) को निरूपित करता है। इस सन्दर्भ में सम्भाव्य का अर्थ है तार्किक दृष्टि से सम्भव। तथ्य के तार्किक चित्र को विचार कह सकते हैं। एक विचार ही अर्थपूर्ण उपस्थापना है।

चित्र वस्तुतः तथ्यों को ही निरूपित करते हैं। किन्तु ये चित्र किसी वस्तु का फोटो नहीं होते, ये तार्किक चित्र होते हैं। तार्किक चित्र मे चित्र के भिन्न-भिन्न अंशों मे तार्किक सम्पर्क होता है। इसका अर्थ यह है कि ये अंश कुछ नियमों के द्वारा सम्बद्ध होते हैं। एक गीत की स्वरलिपि (notation) को लीजिए। उस स्वरलिपि मे एक तार्किक सम्बन्ध होता है तथा उस स्वरलिपि और उस गीत के स्वरो मे सम्बन्ध होता है जिसे वह स्वरलिपि व्यक्त कर रही है। इसी प्रकार हमारे द्वारा निर्मित तार्किक चित्रों और विश्व के तथ्यो मे एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

जिस प्रकार स्वरलिपि एक गीत की संरचना को व्यक्त करती है उसी प्रकार हमारी उपस्थापनाएं जगत् की संरचना को निरूपित करती हैं। उपस्थापनाओं द्वारा निरूपित जगत् के अनुभव का जब हम तार्किक विश्लेपण करते हैं तो हम उन तथ्यों पर पहुंचते है जो कि जगत् के अन्तिम घटक (constituents) हैं।

यह मत ह्यूम से भिन्न है। ह्यूम अनुभव का विश्लेपण मनोवैज्ञानिक रीति से करते है, तार्किक रीति से नहीं। उनके अनुसार अनुभव के अन्तिम घटक वे सस्कार हैं जिनकी छाप हमारे चित्त पर पड गयी है। ये सस्कार असम्बद्ध ऐन्द्रिय विषयों (sense objects) जैसे 'नीला रग' को व्यक्त करते हैं। विटगेन्स्टाइन के अनुसार अनुभव का विश्लेपण हमे उन उपस्थापनाओं की ओर पहुंचाता है जो कि ऐन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं जैसे, यह नीले रग वाली वस्तु।

[विटगेन्स्टाइन का कहना है कि भाषा का कार्य है चित्र बनाना। यह चित्र तार्कीय होता है। तार्कीय चित्र जगत् की वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाता है। अत भाषा, चिन्तन और वास्तविकता का सीधा सम्बन्ध है। जब भाषा चित्र और जगत् की सरचना मे समरूपता पायी जाती है तभी हम उस चित्र को यथार्थ कह सकते हैं।]

दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य

दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य है उपस्थापनाओं का स्पष्टीकरण (elucidation of propositions)। तत्वज्ञान (metaphysics) की उपस्थापनाएं केवल आभासी उपस्थापनाएं (pseudo propositions) होती हैं। वे विश्व के तथ्यों का पूर्ण चित्र नहीं बना सकती। अत वे व्यर्थ हैं। जो बात स्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती उसके विषय मे दार्शनिक को चुप रहना चाहिए। इसलिए दर्शनशास्त्र का केवल यही कार्य है कि वह विज्ञान की उपस्थापनाओं का तार्किक भाषा द्वारा स्पष्टीकरण करे। यदि तत्वज्ञान की बातें केवल आभासी उपस्थापनाएं हैं, तो दर्शनशास्त्र के लिए कोई कार्य न शेष रह जायेगा। विटगेन्स्टाइन का कहना है कि दर्शनशास्त्र का यह कार्य रहेगा कि परिशुद्ध भाषा द्वारा तत्त्वज्ञान मे प्रयुक्त भाषा के दोष का निराकरण करे। दर्शनशास्त्र का कार्य होना चाहिए भाषा-क्रीडा (language game) का विश्लेषण।

विटगेन्स्टाइन की अर्थ की अवधारणा यही है कि उपस्थापना का सत्यापन (verification) हो जाय। यदि किसी उपस्थापना का सत्यापन हो जाता है तो वह सार्थ (meaningful) है। यदि उसका सत्यापन नहीं हो सकता तो वह अर्थ-हीन है। किसी उपस्थापना के सत्यापन का भाव यह है कि क्या वह उपस्थापना ऐसे तथ्यों का निरूपण करती है जिनका जगत् मे वास्तविक अनुभव किया जा सकता है।

¹ वियना केन्द्र के विद्वानो ने सत्यापन के इसी सिद्धान्त को ग्रहण कर लिया। उन्होंने इसका प्रयोग इसको सिद्ध करने मे किया कि तत्वज्ञान की उपस्थापनाए सर्वथा अर्थहीन हैं। केवल विज्ञान की उपस्थापनाओ का स्पष्टीकरण करना दर्शन का कार्य है, क्योकि विज्ञान की उपस्थापनाए सार्थ है।

रुडॉल्फ कार्नप का तार्कीय अनुभववाद

रुडॉल्फ कार्नप का जन्म 1891 मे हुआ। वह बर्ट्रण्ड रसल और विटगेन्स्टाइन के सम्पर्क मे आये। इन विद्वानो का उन पर पर्याप्त प्रभाव पडा। फलत वह तत्वज्ञान से विमुख हो गये। उनका ईश्वर, अमरत्व, चैतन्य, आत्मा मे विश्वास जाता रहा। कुछ समय के अनन्तर उनका सम्पर्क वियना केन्द्र से भी हुआ। लगभग 1913-14 मे वह अमेरिका चले गये और वही के नागरिक बन गये। वह अमेरिका के दार्शनिक विद्वानो के सम्पर्क मे आये और उनके साथ उन्होने विचार-विमर्श किया।

वह इस निर्णय पर पहुचे कि तत्वज्ञान एक व्यर्थ का प्रयास है। वह तर्कशास्त्र के नियमो के विपरीत है। उनकी उक्तिया उपस्थापनाए भी नही कही जा सकती। वे केवल आभासी वाक्य हैं। उनमे केवल भावो की प्रचुरता है। उनका सत्यापन नही किया जा सकता।

उनकी यह धारणा बनी कि दर्शनशास्त्र को इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सूचनाओ के आधार पर केवल साक्षात ज्ञानविषयक भाषा (phenomenological language) का प्रयोग करना चाहिए। वियना केन्द्र के दार्शनिकों से प्रभावित होकर उन्होंने इस धारणा मे थोडा सा परिवर्तन किया। वियना केन्द्र के दार्शनिको का मत था कि हम वस्तुओ का ज्ञान केवल साक्षात् रूप से नही होता, परोक्ष रूप से भी होता है। हम देखते हैं भौतिक वस्तुओ को, किन्तु उन पर कुछ गुणो को आरोपित करते हैं। इस प्रकार के ज्ञान की अभिव्यक्ति भौतिकीय भाषा (physicalistic language) द्वारा की जाती है। उदाहरणार्थ, "यह मेज काला और भारी है"— यह वाक्य भौतिकीय भाषा का है। इस भाषा को सभी समझ सकते हैं। कार्नप ने इसी भौतिकीय भाषा को अपनाया।

हिलबर्ट और टार्स्की जैसे विद्वानो से प्रभावित होकर कार्नप ने भाषा के तार्किक विन्यास (logical syntax of language) की रचना की। उन्होंने कुछ विशेष प्रनियमो के आधार पर तार्किक विन्यास के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उन्होंने आकारिक निगमनात्मक तर्कशास्त्र (formal deductive logic) पर सबसे अधिक बल दिया। इस सरणि मे कुछ निश्चित आधारवाक्य (premisses) होते है। उन आधारवाक्यो से निगमन द्वारा कोई निष्कर्ष

(conclusion) निकाला जाता है। उस निष्कर्ष का सत्यापन (verification) किया जाता है। आकारिक निगमन के समय अनुमान के अर्थ की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नही है। उसमे यही देखना पर्याप्त है कि तर्क आकारिक (formal) दृष्टि से शुद्ध है या नही।

अपने चिन्तन मे उन्होने अन्त मे तार्किक अनुभववाद (logical empericism) पर विशेष रूप से बल दिया। उनके इस सिद्धान्त का सार यह है कि किसी उक्ति की यथार्थता अथवा अयथार्थता को हम केवल वैज्ञानिक विधि के प्रयोग-द्वारा जान सकते हैं। तत्त्वज्ञान (metaphysics) की उक्तियों की यथार्थता का हम इस वैज्ञानिक विधि के द्वारा पता नही लगा सकते। अत तत्त्वज्ञान के प्रत्यय, जैसे ब्रह्म (the abslute), ईश्वर (God), आत्मा (self), इत्यादि अर्थहीन हैं। तत्त्वज्ञान को हम यथार्थ ज्ञान के क्षेत्र म नही रख सकते।

वह इस निष्कर्ष पर पहुचे कि वैज्ञानिक अनुसधान ही ज्ञान का साधन हो सकता है। हम केवल विज्ञान क तर्कशास्त्र (logic of science) का ही अध्ययन करना चाहिए। उन्होने यह मत निर्धारित किया कि सभी विज्ञानो की भाषाओं को भौतिकी (physics) की भाषा मे परिवर्तित किया जा सकता है। मनोविज्ञान की भाषा को भी वह भौतिकी की भाषा म व्यक्त करने के पक्ष मे हो गये। व्यवहारवादी मनोविज्ञान (behaviouristic psychology) को ही उन्होने आदर्श मनोविज्ञान माना और इस मत का प्रतिपादन करने लग गये कि सब मनोविज्ञान मानव देह और उसके व्यवहारो मे ही परिसीमित हैं। अत हम मनोविज्ञान को भी सरलता से भौतिकी की भाषा मे व्यक्त कर सकते हैं। विज्ञान ही सब ज्ञान का आधार बन सकता है। हम ज्ञान केवल उसी को कह सकते हैं जो अर्थपूर्ण उपस्थापना के द्वारा व्यक्त किया जा सके। विज्ञान ही ऐसे ज्ञान का आदर्श है। वैज्ञानिक भाषा का तात्त्विक विश्लेपण ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

विज्ञान का ज्ञान अनुभवजन्य होता है। अत विज्ञान और उसका तर्कशास्त्र ही महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वज्ञान या तत्त्वमीमासा निरर्थक है। हम अनुभवाश्रित तथ्यो का वैज्ञानिक परीक्षण कर सकते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान की उपस्थापनाओ का परीक्षण सम्भव नही है।

कार्नप का मत है कि हम वैज्ञानिक तथ्य का पुष्टीकरण उद्गमनात्मक तर्क (inductive logic) द्वारा कर सकते हैं। उन्होने उद्गमनात्मक विधि की आधुनिक ढग से सुन्दर व्याख्या की है।

कार्नप के चिन्तन का सार यही है कि हम केवल अनुभव द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अनुभवजन्य ज्ञान भौतिक जगत् का ही हो सकता है। इस ज्ञान को हम भौतिकीय भाषा म व्यक्त कर सकते हैं। इस ज्ञान का हम उद्गमनात्मक तर्क द्वारा वैज्ञानिक परीक्षण कर सकते हैं। तत्त्वज्ञान अनुभवाश्रित नही होता

और न उसका वैज्ञानिक परीक्षण हो सकता है। अत. तत्त्वज्ञान निरर्थक है।

प्रश्न यह होता है कि मानव के भीतर जो इष्ट-सम्बन्धी या मूल्य-सम्बन्धी उपस्थापनाए (value propositions) हैं उनकी क्या स्थिति होगी ? यदि तत्त्व-ज्ञान निरर्थक है तो मूल्य-सम्बन्धी शास्त्रो का हम क्या करें ? 'चोरी मत करो', 'हिंसा मत करो' इत्यादि वाक्य मानव समाज मे प्रचलित हैं। इनके द्वारा मानव का व्यवहार नियन्त्रित होता है। इन्ही नियमो से मानव समाज व्यवस्थित रहता है। इन वाक्यो की तो हम उपेक्षा नही कर सकते।

कार्नप का मत है कि मूल्यों के सम्बन्ध मे व्यापक सिद्धान्त नही बनाया जा सकता। इष्ट या मूल्य मानव की रुचियो और इच्छाओ पर अवलम्बित हैं। मानव अपनी इच्छा को आदेश (command) द्वारा व्यक्त करता है—'ऐसा करना चाहिए, ऐसा नही करना चाहिए, ऐसा करो, ऐसा मत करो'—इन आदेशो के द्वारा व्यक्ति के कार्य प्रभावित होते हैं। किन्तु ऐसी निश्चयात्मक उक्तियो को हम न तो यथार्थ कह सकते है, न अयथार्थ। न तो इन्हें सत्य सिद्ध किया जा सकता है, न असत्य।

कार्नप का मत है कि इन मूल्यो का कोई अवबोधात्मक अन्तर्वस्तु (cognitive content) नही होता। सभी इष्ट या मूल्य-सम्बन्धी उक्तिया आभासी उपस्थापनाए (pseudo propositions) हैं। ये तार्किक अन्तर्वस्तु से शून्य हैं। ये आभासी उपस्थापनाएं केवल वक्ता के भावो को व्यक्त करती हैं, उसके अवबोध या ज्ञान को नही। अतः जो इष्ट या मूल्य-सम्बन्धी शास्त्र हैं, जैसे धर्म, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, उनकी उक्तिया तार्किक दृष्टि से निरर्थक हैं। इन उक्तियो का वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्यापन (verification) नही किया जा सकता।

ए० जे० आयर का तार्कीय निश्चितवाद

ए० जे० आयर का जन्म 1910 ई० मे इगलैण्ड मे हुआ था। इनकी शिक्षा इगलैण्ड मे ही हुई। वह पहले जी० ई० मूर, बर्ट्रेण्ड रसल और विटगेन्श्टाइन के प्रभाव मे आये। फिर वह वियना केन्द्र के विद्वानो से प्रभावित हुए। इन विद्वानो के विचारो को इगलैण्ड मे फैलाने मे आयर का बहुत योगदान रहा। उन्होने अपने मत का सबसे पहले 1936 ई० मे *Language, Truth and Logic* मे प्रतिपादन किया।

अन्य निश्चितवादानुयायियो की भाति उन्होने भी यही कहा कि वास्तविक ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान पर आश्रित होता है। जिस ज्ञान का हमे ऐन्द्रिय अनुभव नहीं होता और जिसको वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता वह सच्चा

ज्ञान नहीं माना जा सकता। परमतत्त्व ऐन्द्रिय अनुभव द्वारा नहीं जाना जा सकता। अत तत्त्वज्ञान (metaphysics) असम्भव है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि तत्त्वज्ञान अन्तरवबोध या प्रज्ञा (intuition) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह एक भ्रामक कल्पना है। ऐसे ज्ञान का वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्यापन नहीं किया जा सकता। जिसका वैज्ञानिक परीक्षण नहीं हो सकता उस ज्ञान को हम सत्य नहीं मान सकते।

फलत जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रागनुभविक (a'priori) प्रत्ययों पर प्रतिष्ठित है वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव नहीं प्राप्त किया जा सकता और न वैज्ञानिक विधि द्वारा उसका सत्यापन हो सकता है।

वस्तुत वैज्ञानिक ही प्रत्ययों को निरूपित करते हैं। दार्शनिक केवल इन प्रत्ययों का लक्षण बतलाता है और तर्क द्वारा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र तर्कशास्त्र की ही एक शाखा है। दर्शनशास्त्र केवल विज्ञान का तर्कशास्त्र है। दार्शनिक स्वयं भौतिक पदार्थों का सत्यासत्य नहीं निरूपण कर सकता। वह केवल विज्ञान द्वारा निरूपित प्रत्ययों का विश्लेषण कर सकता है और उनका पारस्परिक तार्किक सम्बन्ध बतला सकता है। तत्त्वज्ञान का कोई भी प्रत्यय वैज्ञानिक विधि द्वारा नहीं सिद्ध हो सकता। अत तत्त्वज्ञान निरर्थक और त्याज्य है।

आयर ने सत्यापन (verification) के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। उनका कहना है कि जो वाक्य सत्य की कसौटी पर कसा जा सकता है और अन्ततोगत्वा ऐन्द्रिय अनुभव द्वारा समर्थित किया जा सकता है वही अर्थपूर्ण और यथार्थ है। जिसका सत्यापन सम्भव नहीं है जो ऐन्द्रिय अनुभव से सर्वथा और सर्वदा परे है वह निरर्थक है। उसे हम ज्ञान की कोटि में नहीं रख सकते। इसलिए तत्त्वज्ञान के ईश्वर, आत्मा, अमरता इत्यादि प्रत्यय निरर्थक हैं। दर्शन के लिए यह भी सम्भव नहीं है कि वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर प्रागनुभविक निर्णय ले सके।

प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वर, आत्मा, अमरता, इत्यादि प्रागनुभविक (a'priori) ज्ञान पर कोई अर्थपूर्ण सिद्धान्त नहीं स्थापित किया जा सकता तो दर्शनशास्त्र ही बेकार हो जायेगा। आयर का कहना है कि दर्शनशास्त्र का केवल यही कार्य रह जायेगा कि वह वैज्ञानिक उपस्थापनाओं का विश्लेषण करे और उनके पारस्परिक तार्किक सम्बन्ध का अनुसन्धान करे। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता। दर्शनशास्त्र तर्कशास्त्र (logic) की एक शाखा के रूप में ही जीवित रह सकता है।

नैतिकता का भावात्मक आधार

आयर के अनुसार नैतिक प्रत्यय सर्वमान्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनका केवल भावात्मक आधार है। वे केवल व्यक्तियों के भावों को व्यक्त करते हैं। इन भावात्मक उक्तियों (emotive statements) का कोई तार्किक आधार नहीं होता। इसलिए न उन्हें यथार्थ कहा जा सकता है, न अयथार्थ। वे केवल व्यक्ति की भावात्मक अभिवृत्ति (emotional attitude) के सूचक हैं।

नैतिक उक्ति की प्रवर्तक अभिवृत्ति (persuasive attitude) भी होती है। जब कोई यह कहता है कि सबका कल्याण करना चाहिए तो उसकी उक्ति में यह प्रयोजन निहित है कि सभी दूसरों का कल्याण करें। यह एक प्रवर्तक अभिवृत्ति है। तार्किक दृष्टि से हम इसे न यथार्थ कह सकते हैं न अयथार्थ।

नैतिक उक्तियों की कुछ सार्थकता मनोविज्ञान, समाजविज्ञान अथवा नृविज्ञान (anthropology) के लिए हो सकती है। ये विज्ञान उन उक्तियों का विश्लेषण करके परीक्षण कर सकते हैं, किन्तु दर्शनशास्त्र के लिए उन भावात्मक उक्तियों की कोई सार्थकता नहीं है। नीतिशास्त्र न तो दर्शनशास्त्र का अंग है, न विज्ञान का, क्योंकि कोई भी नैतिक उक्ति सार्वत्रिक (universal) नहीं हो सकती।

समीक्षा

तार्कीय निश्चितवाद ने विश्व के केवल भौतिक तथ्यों को समग्र सत्य मान लिया है। भौतिक जगत् ही उसके लिए चरम तत्त्व है। अर्हा या मूल्यों को उसने कोई स्थान नहीं दिया। किन्तु सत्य भौतिक तथ्यों तक परिसीमित नहीं है। मूल्य केवल भावात्मक नहीं है। वह भी सत्ता का एक अंग है। उसका बोध शुद्ध चेतना या अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही होता है। केवल विज्ञान सब ज्ञान का साधन नहीं है।

तार्कीय निश्चितवाद ने दर्शनशास्त्र को विज्ञान का अनुचर मान लिया है। उसके अनुसार दर्शन का कार्य केवल विज्ञान की उपस्थापनाओं का भाषा की दृष्टि से विश्लेषण और परिशोधन करना है। यह धारणा अमान्य है। दर्शन एक स्वतन्त्र शास्त्र है। दर्शन मुख्यतः विश्लेषणात्मक (analytical) नहीं, संश्लेषणात्मक (synthetical) है। केवल भाषा के विश्लेषण द्वारा तत्त्व को नहीं जाना जा सकता। भाषा किस तत्त्व को इंगित करती है वह केवल भाषा के विश्लेषण द्वारा नहीं समझा जा सकता।

विज्ञान एक सीमित क्षेत्र के विषय में विवेचन करता है। ज्योतिष नक्षत्र-मण्डल का, भौतिकी भूत द्रव्य और ऊर्जा का, जैवविज्ञान प्राण का विवेचन करता है। विज्ञान समग्र, विपुल, भूमा के विषय में कुछ नहीं कहता। विज्ञान का ज्ञान

परिसीमित एवं संकुचित होता है। दर्शन समग्र के विषय में ज्ञान देता है। कहा जा सकता है कि दर्शन समस्याओ का कोई शाश्वत समाधान नही देता। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में भी समस्याओ का शाश्वत समाधान नही मिलता। उदाहरणार्थ, न्यूटन की भौतिकी के स्थान मे अब क्वाण्टम भौतिकी प्रचलित हो गयी है। दिक्, काल, कारण इत्यादि अवधारणाओ का विज्ञान स्पष्टीकरण नही करता। तार्किक निश्चितवादियो ने विज्ञान की परिसीमितता की ओर ध्यान नही दिया।

कार्नप तार्किक अनुभववाद के बडे समर्थक थे। उन्होंने केवल ऐन्द्रिय अनुभव, वैज्ञानिक प्रमाण और आनुभविक परीक्षण को ज्ञान का साधन माना है। उनका कहना है कि दर्शन कोई स्वतन्त्र शास्त्र नही है। यह विज्ञान का तर्कशास्त्र मात्र है। किन्तु दर्शन एक स्वतन्त्र शास्त्र है। यह विज्ञान का उपजीवी मात्र नही है। विज्ञान देश (space), काल (time), कारण (causality) का उपयोग तो करता है, किन्तु इनका विवेचन नही करता। दर्शन शास्त्र इनका विवेचन करता है।

कार्नप का इष्टत्व या मूल्य की अवधारणा दोषपूर्ण है। मूल्य मानव की इच्छाओ और भावो की अभिव्यक्ति मात्र नही है। सच बात तो यह है कि मूल्य ही मानव व्यक्तित्व का आधार है। यही उसके जीवन को अर्थपूर्ण बनाता है। यही उसको पशु से पृथक् करता है। इसी के द्वारा समाज परिचालित होता है।

कार्नप ने विश्व को, समस्त जीवन को केवल एक भौतिक सत्ता मान रखा है। इसलिए वह कहते हैं कि समस्त विज्ञान की भाषा भौतिकीय भाषा मे रूपान्तरित की जा सकती है। यहा तक कि उन्होने मनोविज्ञान के तथ्यो को भी भौतिकीय भाषा मे परिवर्तित करने के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनका यह सिद्धान्त कि समस्त विश्व भौतिकीय सत्ता है मूलत दोषपूर्ण है। मन अथवा चित्त निस्सन्देह भौतिक सत्ता से एक उच्चतर सत्ता है। एक उच्चतर सत्ता को निम्नतर सत्ता मे परिवर्तित करना न्यूनीकरण या अपचयवाद (reductionism) के दोष से ग्रस्त है। यह व्याख्या नही, अवव्याख्या है।

कार्नप तर्कशास्त्र से इतने प्रभावित थे कि साधारण भाषा को भी उन्होने आकारिक तार्किक विन्यास (formal logical syntax) मे रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न सर्वथा कृत्रिम और अर्थहीन है। जीवन म, चिन्तन मे, विश्व म इतनी अर्थविपुलता और विविधता है कि सब कुछ कार्नप के आकारिक विन्यास म नही ठूमा जा सकता।

तार्किक निश्चितवादियो ने अनुभव पर बहुत ही बल दिया है। उन लोगो ने अनुभव को बहुत ही सकुचित अर्थ मे लिया है। अनुभव से उनका तात्पर्य है ऐन्द्रिय अनुभव। ऐन्द्रिय अनुभव जीवन का एक छोटा सा अश मात्र है। इसको

विश्व के समस्त तथ्यो का मापक दण्ड बनाना विपुलता को, समग्रता को घसीट कर क्षुद्रता की सीमा मे लाने के समान है।

तार्कीय निश्चितवाद ने सत्यापन (verification) पर बहुत बल दिया है। सत्यापन से उनका मुख्यतः यही तात्पर्य है कि किसी उपस्थापना की सत्यता को ऐन्द्रिय अनुभव की कोटि मे लाकर जांचा जाय। यदि सत्यापन का यही अर्थ है तो अतीत की किसी ऐतिहासिक घटना का, जो कि हमारे ऐन्द्रिय अनुभव की बात नही है, क्या अर्थ होगा ? पानीपत का प्रथम युद्ध ईसवी शती 1526 मे हुआ था। क्या 1526 की घटना किसी ऐन्द्रिय अनुभव मे लायी जा सकती है ? इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के प्रयोजन के विषय मे जब हम कुछ कहते है तो क्या उसकी चेतसिक प्रक्रिया ऐन्द्रिय अनुभव की सीमा मे लायी जा सकती है, इस प्रकार की घटनाओ और तथ्यो का तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष किया ही नही जा सकता है। इन कठिनाइयों का तार्कीय निश्चितवाद मे कोई स्पष्ट उत्तर नही मिलता। वे यही कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि ऐसे तथ्यो का परोक्ष (indirect) या वक्र परिणाम आका जा सकता है।

यदि सत्यापन का अर्थ है निश्चायक रूप से (conclusively) सिद्ध करना, तब तो विज्ञान की सामान्य उपस्थापनाएं, जैसे मनुष्य मरणशील (mortal) प्राणी है, भी इस प्रकार नही सिद्ध की जा सकती। क्योकि परिसीमित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा हम केवल यही कह सकते हैं कि कुछ मनुष्य मरते हुए देखे गये हैं। हम परिसीमित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा सभी मनुष्यो के विषय मे यह कैसे कह सकते हैं कि वे मरणशील हैं। इस कठिनाई ने तार्कीय निश्चितवादियो को चक्कर मे डाल दिया है। श्लिक ने तो यहा तक कह डाला कि ये सामान्य उपस्थापनाएं निरर्थक हैं, केवल ये गौरवपूर्ण, महत्वपूर्ण निरर्थकता के प्रकार हैं। यदि विज्ञान की सामान्य उपस्थापनाएं निरर्थक हैं तब तो इन निश्चितवादियो ने जिस विज्ञान को चरम सत्य का उदाहरण माना है उसे भी उन्हें उसी कोटि मे रखना पडेगा जिसमे उन्होने दर्शनशास्त्र को रखा है।

कार्ल पापर ने विज्ञान को निरर्थकता की स्थिति से बचाने के लिए कहा कि कुछ महत्वपूर्ण परिसीमित पर्यवेक्षण (observation) भी सामान्य उपस्थापनाओ के निर्धारक माने जा सकते हैं, यद्यपि वे पूर्ण रूप से साधक नही माने जा सकते। आयर इन मतो से सहमत नही हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान की सामान्य उपस्थापनाए सार्थक मानी जा सकती हैं, क्योकि ऐसे तथ्यो का पर्यवेक्षण किया जा सकता है जो कि इन उपस्थापनाओ को यद्यपि निश्चित या अचूक (certain) न सिद्ध कर पाता हो तथापि सम्भाव्य (probable) तो सिद्ध कर ही सकता है। आयर को सत्यापन के दो विभाग मानने पडे—प्रबल और निर्बल। प्रबल सत्यापन वह है जो किसी सत्य का निश्चायक प्रमाण हो, और निर्बल सत्यापन वह

है जो किसी उपस्थापना की सम्भाव्यता मात्र बतलाता हो। इसका अर्थ तो यह हुआ कि केवल विश्लेषणात्मक (analytical) उपस्थापनाओं का प्रबल सत्यापन हो सकता है, किसी सश्लेषणात्मक (synthetic) उपस्थापना का प्रबल सत्यापन न हो सकेगा। सभी सश्लेषणात्मक उपस्थापनाएं सम्भाव्य (probable) मात्र रह जायेंगी क्योंकि उनका केवल दुर्बल सत्यापन प्रस्तुत किया जा सकता है।

जिस विज्ञान का तार्कीय निश्चितवादियों ने इतना डिंडिम घोष किया था उसी की नींव खुद गयी। यदि सश्लेषणात्मक उपस्थापनाएं सम्भाव्य मात्र रह जायेंगी तो विज्ञान की विशेषता क्या रहेगी। इन निश्चितवादियों के अनुसार कोई भी सश्लेषणात्मक उपस्थापना नितान्तेन सत्य नहीं कही जा सकेगी। हमें सापेक्षवाद की शरण लेनी पड़ेगी। इन तार्कीय निश्चितवादियों और व्यवहारवादियों अथवा अर्थक्रियावादियों (pragmatists) में कोई अन्तर न रह जायेगा।

तार्कीय निश्चितवादियों ने केवल तार्कीय विश्लेषण और वैज्ञानिक सत्यापन को ही यथार्थता का, सत्य का मानदण्ड बना लिया है। यह नितान्त सकुचित दृष्टि है। जीवन के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक सत्यापन की प्रक्रिया प्रयोग में लायी ही नहीं जा सकती। सौन्दर्य, शुभ, कर्तव्य, आध्यात्मिक चेतना इत्यादि जीवन के कुछ ऐसे अनुभव हैं जिनमें तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग हो ही नहीं सकता। इन अनुभवों का हम केवल सश्लेषात्मक विधियों द्वारा विवेचन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तार्कीय निश्चितवाद कई दोषों से ग्रस्त है। उसका दर्शनशास्त्र के लिए कोई विशेष योगदान नहीं है। उसका केवल भाषा के विश्लेषण और परिष्कार में ही योगदान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1 AYER, A J, *Language, Truth and Logic*
2 CARNAP, R *The Logical Syntax of Language*
3. WITTGENSTEIN L, *Tractus Logico—Philosophicus*

अध्याय 2

नव्य चिद्वाद
(NEO IDEALISM OR MODERN IDEALISM)

[उपक्रम, चिद्वाद का तत्त्वमीमांसीय आधार, ज्ञानमीमांसीय आधार, तार्किक आधार, मूल्याश्रित आधार।]

उपक्रम

काण्ट ने ज्ञानमीमांसा (epistemology) के आधार पर अनुभववाद (empiricism) का खण्डन किया था। उन्होंने अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध किया कि अनुभव केवल संवेदनों या आलोचनों पर प्रतिष्ठित नहीं है। अनुभव के निर्माण में चित्त की क्रियाशीलता विद्यमान है। चित् ही के देश, काल, कारण इत्यादि प्रमापकों (categories) के द्वारा अनुभव सम्भव है। किन्तु काण्ट ने स्वलाक्षण्य (thing in-itself) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था जिसको वह संवेदनों का आधार मानते थे।

काण्ट के अनन्तर जर्मनी में फिख्टे, शेलिंग, हीगेल इत्यादि ऐसे चिन्तक हुए जिन्होंने काण्ट के स्वलाक्षण्य सिद्धान्त को नहीं माना। उनकी समझ से इस सिद्धान्त से तो चिद्वाद सापेक्ष हो जाता है। संवेदनों के पीछे एक ही स्वलाक्षण्य रूपी भिन्न सत्ता मानने से चित् उस स्वलाक्षण्य की अपेक्षा से ही, उस पर आश्रित होकर ही क्रिया कर सकता है। इसलिए उन्होंने स्वलाक्षण्य का निरसन कर दिया।

उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि चित् निरपेक्ष है ऐकान्तिक (absolute) है। ऐकान्तिक चिद्वाद का सिद्धान्त यह है कि मूलतत्त्व, वस्तु-भूतसत् (reality) चित् है। वह ब्रह्म है, आत्मस्वरूप है। वह तत्त्व वह नहीं है।

वह एक सम्पूर्ण सर्वसग्राही (all-inclusive) तत्त्व है। वह अन्य किसी वस्तु पर आश्रित नही है, क्योकि उससे बाहर कुछ है ही नही। इस चिन्तन का प्रादुर्भाव जर्मनी मे हुआ। इसका प्रभाव अन्य देशो के चिन्तकों पर पड़ा।

चिद्वाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि परमतत्त्व मूलरूप मे चित् है, चेतन-स्वरूप है। यह प्रकृति के सभी विभावो मे अव्यक्त अथवा व्यक्त रूप मे विद्यमान है। चिद्वाद के मुख्य आधार तत्त्वमीमासीय, ज्ञानमीमांसीय, तार्किक और इष्टत्व या मूल्य-सम्बन्धी हैं।

1. तत्त्वमीमांसीय आधार

चेतन विश्व के प्रत्येक विभाव मे अन्तर्निहित है। उसी से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति हुई है। यत: विश्व के सभी विभाव के मूल मे चित् है अत: विश्व में एक सर्वव्यापी व्यवस्था दिखायी देती है। चित् की क्रियाशीलता और सर्वव्यापित्व को हम सक्षेप मे निम्न प्रकार से समझ सकते हैं:

(क) मानव का चेतनामय अस्तित्व—मानव की अनुभूतियां चेतनाश्रित हैं। प्रत्येक अनुभूति के मूल मे चेतना है। सचेतन आत्मा सभी अनुभवों का केन्द्र और ग्राहक है। उसके कार्य चेतना द्वारा निदेशित होते है।

(ख) मानव की स्वतन्त्रता—मानव अपने कार्यों को यन्त्रवत् नही करता। वह विभिन्न विकल्पो मे से किसी एक का चयन करता है। यह चयन उसकी स्वतन्त्रता के द्योतक हैं। वह एक निश्चेष्ट प्राणी नही है। वह सचेष्ट कर्ता है। इस चयन-क्रिया मे, सचेष्टता मे चेतना ही उसका निदेशक है।

(ग) विश्वव्यापी व्यवस्था—विश्व एक अनियत, छुटपुट, शृखलाहीन पदार्थों का पुन्ज मात्र नही है। पृथ्वी अपनी धुरी पर किसी नियम से चक्कर काट रही है। ग्रह, उपग्रह आकाश मे किसी नियम से भ्रमण कर रहे हैं। जल, थल, वनस्पति, पशु, मनुष्य एक ऐसे नियम के सूत्र मे बधे हुए है जो उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। विश्व अस्त-व्यस्तता, अव्यवस्था का परिणाम नही है। वह एक व्यवस्था, नियम, सुसम्बद्धता का परिणाम है। यह नियम, व्यवस्था, सुसम्बद्धता, आकस्मिक नही है, यादृच्छिक नही है, यान्त्रिक नही है। यह चेतना द्वारा ही सम्भव है। यह विश्वव्यापी व्यवस्था चेतना या विबोध की ही अभिव्यक्ति है।

2. ज्ञानमीमासीय आधार

(क) ज्ञान की सम्भावना—मानव का चित्त एक श्वेत फलक या श्वेत कागज के समान नही है जिस पर बाह्य पदार्थ अंकित हो जाते है। चित्त क्रियाशील होता है। वह बाह्य पदार्थों को, भूतवस्तु को एक आकार मे ढालता है, उनमे सम्बन्ध

स्थापित करता है। चित्त की इस क्रियाशीलता के बिना ज्ञान असम्भव है। सच बात तो यह है कि एक मूलभूत चित् या संवित् (consciousness) है जिसके प्रमाता और प्रमेय, ज्ञाता और प्रकृति परस्पर सम्बद्ध प्ररूप हैं।

(घ) परिमित ज्ञान का संकेत—मानव को अपने ज्ञान के परिमित (finite) होने का बोध रहता है। यह परिमितत्व का बोध एक अपरिमित ज्ञान का संकेत करता है जिसके परिमित ज्ञाता और ज्ञेय दोनों अंश हैं।

3. तार्किक आधार

प्रत्येक पदार्थ के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक ऐसी सच्चाई है जिसमें भिन्न-भिन्न तत्त्वों का एक आन्तरिक सम्बन्ध है। किन्तु भिन्न-भिन्न तत्त्वों का एक में आन्तरिक परस्पर सम्बन्ध बिना चेतना के सम्भव नहीं है। केवल चेतना ही एक ऐसा तत्त्व है जो कि बहु को, उनके बहुत्व के विनष्ट किये बिना, उन्हें एकत्व में संश्लिष्ट कर सकती है।

इसके अतिरिक्त जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह ऐसे पदार्थों का समुदाय है जो एक संहति (one system) में परस्पर सम्बद्ध है। इसलिए यह एक संहति इस तथ्य को ध्वनित करती है कि कोई एक विश्वव्यापी चेतना है जिससे सम्बद्ध हुए बिना प्रकृति के एकत्व, उसकेएक संहतित्व का निर्धारण और स्पष्टीकरण असम्भव है। विश्व का एक संहतित्व, एकीकृत साकल्य एक सर्वसंग्राही (all-inclusive), स्वविमर्शात्मक (self-conscious) चेतना पर ही आश्रित है। अतः चित् ही परमतत्त्व है।

4. मूल्याश्रित आधार

परमतत्त्व केवल सत् और चित् नहीं है, वह हमारे सब स्थायी मूल्यों का आधार भी है। वह आनन्दमय है। वह हमारे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् मूल्यों का आधार है। ऐसा आधार एक सम्पूर्ण सर्वसंग्राही, स्वविमर्शात्मक चेतना ही हो सकती है।

निरपेक्ष, ऐकान्तिक चिद्‌वाद (absolute idealism) का प्रादुर्भाव जर्मनी में हुआ। उसका प्रभाव 19वीं शती में इंगलैण्ड में सबसे पहले विशेष रूप से कालरिज (Coleridge) पर पड़ा। वे मुख्यतः शेलिंग (Schelling) से प्रभावित थे। उन्होंने इंगलैण्ड के अनुभववाद पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। 1865 में जब स्टर्लिंग (Sterling) ने सीक्रेट ऑफ हीगल नामक पुस्तक प्रकाशित की, तब वहां के चिन्तकों का चिद्‌वाद की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ।

ऐकान्तिक चिद्‌वाद का प्रभाव इंगलैण्ड, अमेरिका और इटली के चिन्तकों

पर पड़ा। पहले हम ब्रिटिश चिद्वादियो के दर्शन का एक संक्षिप्त विवरण उपस्थापित कर रहे है।

(क) ब्रिटिश चिद्वाद

1. टामस हिल ग्रीन, (1836 1882)
(T. H. Green)

[ग्रीन की तत्वमीमांसा, विश्व में मानव का स्थान, नैतिक दर्शन, समीक्षा।]

ब्रिटेन मे टामस हिल ग्रीन ने चिद्वाद की व्याख्या अपने ढग से उपस्थापित की।

ग्रीन की तत्वमीमासा

यद्यपि ग्रीन, काण्ट और हीगल से प्रभावित थे तथापि वह सभी बातो मे उनके अनुयायी नहीं थे। वह काण्ट के स्वलक्षण्य (things-in-themselves) सिद्धान्त को नही मानते थे। उनका यह मत था कि प्रत्यक्षानुभव (sense experience) भी आत्मा (self) पर किसी बाहरी पदार्थ द्वारा अकित नही होता, वह भी भीतर से उत्पन्न होता है। उसका कोई बाहरी उद्गम (source) मानने का अर्थ है उसको उस उद्गम से सम्बद्ध करना। किन्तु सम्बन्ध (relations) प्रत्यक्ष की आधार सामग्री (sense data) को सम्बद्ध करते हैं, वे अनुभव और किसी ऐसी वस्तु के बीच में नही होते जिसका अनुभव ही न हो।

हम एक फल देखते हैं। उसके रूप, रग, गन्ध इत्यादि मिलकर, सश्लिष्ट होकर एक फल के रूप मे हमारे अनुभव मे आते हैं। अनुभव प्रत्येक पदार्थ के घटकों को सश्लिष्ट कर उसे एकाकार रूप म हमारे सम्मुख प्रत्युपस्थापित करता है। इसका अर्थ यह है कि कोई ऐसा तत्व है जो वस्तु को उनका विलयन किये बिना, उनको सश्लिष्ट (synthesize) करके हमारे सम्मुख एक के रूप म प्रस्तुत करता है, और जो तत्व वस्तु का एक के रूप म सश्लेषण करता है वह स्पष्टतः उनसे पृथक् है। ऐसा तत्व चित् के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।

चित् स्वय देश और काल के अनुक्रम (series) का अग नहीं हो सकता। जो अनुक्रम को समग्र अनुक्रम के रूप मे जानता है, उसके भिन्न भिन्न अगो को

सम्बद्ध करता है, वह ऐसा ही तत्त्व हो सकता है जो स्वयं अनुक्रम के प्रवाह से पृथक् हो और जिसके सम्मुख समग्र अनुक्रम उपस्थित हो। इसका अर्थ यह हुआ कि चित् जो कि देश और काल में होने वाले पदार्थों को जानता है देश और काल से परे है। वह एक अभौतिक, आध्यात्मिक (spiritual), अलौकिक, अतिप्राकृतिक (super-natural) तत्त्व है। वह अनादि है। यदि हम उसे अनादि नही मानते, तो हमें उसका काल में प्रारम्भ मानना पड़ेगा। और यह सिद्ध हो चुका है कि वह काल के प्रवाह से पृथक् है। देश और काल से परे है। यद्यपि जिन विषयों को वह ग्रहण करता है उनमें विकार (change) होते रहते है, किन्तु वह स्वयं आन्तरिक विकार से मुक्त है। यदि चित् में भी विकार होते रहें तो विकार के आनुक्रमिक क्षणों को सम्बद्ध कर विकार को एक समग्र विकार के रूप में जानने वाला ही कोई नही रह जायेगा। प्रकृति में विकार होते ही रहते है। इन विकारों को जानने वाला चित् अतिप्राकृतिक है, प्रकृति से भिन्न है। बिना उसके प्रकृति उस रूप में ग्राह्य ही नही हो सकती जिस रूप में वह ग्राह्य हो रही है। अतः काण्ट के शब्दों में चित् (consciousness) प्रकृति का रचयिता (maker) है।

काण्ट ने यह कहा था कि चित् संवेदनों को केवल व्यवस्थित करता है, उन्हें एक निश्चित आकार प्रदान करता है, किन्तु उनकी सृष्टि या उत्पादन नहीं करता। वह संवेदनों का रचयिता (maker) है, किन्तु उत्पादक या स्रष्टा (creator) नही है। इन सवेदनो की योनि (source) स्वलाक्षण्य या वस्तुएं अपने यथार्थ रूप में (things-in-themselves) हैं। इस प्रकार काण्ट के दर्शन में चित् और स्वलाक्षण्य का एक अपरिहार्य द्वैत बना रहा।

ग्रीन का कहना है कि काण्ट का स्वलाक्षण्य का सिद्धान्त स्वयं उनके मूलदर्शन से असंगत है, उसके विपरीत है। यदि स्वलाक्षण्य संवेदनों का कारण (cause) है, तो स्वलाक्षण्य भी दृश्य (phenomena) के भीतर ही होगा, क्योंकि कारण-प्रमापक (category of cause), काण्ट के ही अनुसार, केवल दृश्य में ही लागू हो सकता है, दृश्य से परे किसी वस्तु में नही। प्रत्यक्षानुभव भी आत्मा पर किसी बाहरी पदार्थ द्वारा अंकित नही होता। वह भी भीतर से उत्पन्न होता है। बाहरी उद्गम मानने का अर्थ है उसको उस उद्गम से सम्बद्ध करना। किन्तु सम्बन्ध (relations) प्रत्यक्ष की आधार सामग्री (sense data) को सम्बद्ध करते है; वे अनुभव और किसी ऐसी वस्तु के बीच में नही होते जिसका अनुभव ही न हो।

अतः ग्रीन ने काण्ट के दर्शन की इस असंगति को हटाने के लिए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि संवेदनों का आकार (form) और भूतवस्तु (matter) दोनों चित् की देन हैं। चित्, प्रकृति का निर्माता, केवल आकार प्रदान करने की दृष्टि से ही नही, उसको भूतवस्तु प्रदान करने की दृष्टि से भी है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि विचार या चिन्तन का कार्य है ज्ञेयों, प्रमेयों

को सम्बद्ध करना। यदि कोई सवेदन प्रमेय के रूप मे उपस्थित ही नही है तो चिन्तन सम्बद्ध किसको करेगा।

ग्रीन का उत्तर यह है कि यह भ्रान्त धारणा है कि जब हमे पृथक् रूप से सवेदन मिलते हैं तब चित् प्रमापकों (categories) द्वारा उन्हे सम्बद्ध कर एक वस्तु का रूप देता है। यह हमारी चिन्तन-प्रणाली के पृथक्करण (abstraction) के स्वभाव का परिणाम है कि हम समझते हैं कि कुछ वस्तुएं हमे अलग से सवेदन (sensation) के रूप मे मिलती हैं और फिर हम उन्हे विचार, चिन्तन (thought) के द्वारा सम्बद्ध कर एक विषय (object) के रूप मे जानते हैं। सच बात तो यह है कि सवेदन रूपी प्रमेय और उनका सम्बन्ध, भूतवस्तु (matter) और आकार (form) एक अखण्ड संहृत ज्ञान या चित् के ही अन्योन्याश्रित, सहसम्बन्धी (correlative) विभाव (aspacts) हैं। चित् अखण्ड है, एक है। भूतवस्तु और आकार, प्रमेय और प्रमापक सम्बन्ध उसके समझने के लिए विवेच्य (distinguishable) किन्तु अविच्छेद्य (inseparable) प्ररूप हैं।

इसलिए जो मूल तत्त्व है वह है चित्, न चिन्तन, न सवेदन। चित् मे सवेदन और चिन्तन दोनो एक सश्लिष्ट रूप मे (synthesized) विद्यमान रहते हैं। काण्ट से जो उपबोध (understanding) और सवेदन (sensation) का द्वैत था उसको ग्रीन ने एक अद्वैत चित् मे रूपान्तरित कर दिया जिसमे सवेदन और उपबोध एकीभूत (unified) हैं। काण्ट ने सवेदन के उद्गम के रूप मे जिस स्वलाक्षण्य (things-in-themselves) को मान रखा था वह ग्रीन के दर्शन मे चित् मे विलीन हो गया। जो चित् प्रकृति का निर्माता है वह किसी एक व्यक्ति का चित् नही है। वह सर्वव्यापी है, सार्वत्रिक (univesal) है। वह काल (time) और देश (space) से परे है। यदि हम एक विश्व मे विश्वास करते हैं तो हमे एक विश्वचैतन्य (universal consciousness) को भी मानना पड़ेगा जिसके बिना विश्व के असख्य पदार्थ एक संहृति (system) मे सम्बद्ध नही हो सकते। यह चित् सर्वव्यापी है, निरपेक्ष है, ऐकान्तिक है।

दृश्यो का, पदार्थों की सहृति का, जिसे हम विश्व या प्रकृति कहते है एक, विश्वचैतन्य निर्माता भी है और द्रष्टा भी। मानव मे जो आध्यात्मिक तत्त्व (spiritual principle) या ज्ञातृत्व (knowing consciousness) है उसका विश्वचैतन्य से तादात्म्य (identity) है। मानव के भीतर वह विश्वचैतन्य उन पदार्थों का निर्माण और ज्ञान परिच्छिन्न, परिसीमित मानव शरीर के माध्यम से करता है, जिस माध्यम को उसने स्वय प्रत्युपस्थापित किया है। हमारे ज्ञान और ज्ञेय दोनो उसी विश्वचैतन्य के प्रतिरूप (reproduction) हैं। अन्तर केवल यही है कि हमारे ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक परिसीमित शरीर के माध्यम द्वारा होती है। हमारी चेतना एक विश्वचैतन्य की परिसीमित विधा है।

वह निरपेक्ष विश्वचैतन्य एक सान्त परिसीमित मानव शरीर मे अपना प्रतिरूप क्यो प्रकट करता है ? ग्रीन कहते है कि यह एक रहस्य है जिसका उद्घाटन मानव-चित्त नही कर सकता।

उस ऐकान्तिक सत्य के विषय मे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वह चैतन्य है, चित् है। यदि वह विश्वचैतन्य परिसीमित पदार्थों के विश्व को अभिव्यक्त करता, तो वह चैतन्य ही नही रह जाता क्योकि चैतन्य का स्वभाव है चेतन रहना, अर्थात् विषयो का, पदार्थों का बोध रखना और आत्मचेतन (self-conscious) रहना। विषयो का बोध रखने का अर्थ है उनको अनुभव की सहृति (system) मे सम्बद्ध रखना और आत्मचेतनता का अथ है उन विषयो से अपने को पृथक् रखना, विविक्त रखना और इस प्रकार अपने को एक अपदार्थ, अविषय के रूप मे अनुभव करना।

विश्व मे मानव का स्थान

विश्व एक सहृति है, एक है। विश्व की समस्तता यह सिद्ध करती है कि विश्व को एक सहृति मे सयुक्त करने वाला चैतन्य एक है। हमारे भीतर जो चैतन्य क्रियाशील है उसके द्वारा हमे परम चैतन्य के स्वरूप का कुछ पता चलता है। उसी के द्वारा हमे एक विश्व का, एक नैतिक आदर्श का बोध होता है।

मानव मे जो ज्ञाता, उपलब्धा चेतन तत्त्व है वह स्वतन्त्र है। वह प्रकृति की कार्य-कारण शृखला की कडी नही है। आत्मचेतना का कोई आदि या प्रारम्भ नही है। इसका कभी प्रारम्भ नही हुआ, क्योकि कोई भी ऐसा काल नही था जबकि यह नही था। जगत् की सभी प्रक्रियाए, सभी आनुक्रमिक प्रपञ्च उसी विश्व-चैतन्य के द्वारा निर्धारित हैं। मानव की चेतना उसी विश्वचैतन्य का, कम से कम उसके सश्लेषात्मक और स्वप्रवर्तकीय अश मे, प्रतिरूप है।

ग्रीन ने यह सिद्ध किया है कि सवेदनो का अनुक्रम ज्ञान नही है। बिना एक ज्ञाता के जो कि सवेदनो को व्यवस्थित करता है, उन्हे सम्बद्ध करता है, ज्ञान सम्भव नही है। इसी प्रकार पाशवीय अभावो, आवेगो और कामनाओ का अनुक्रम वास्तविक मानवीय कर्म नही है। एक बुभुक्षा मात्र या पाशवीय अभाव एक प्राकृतिक घटना है, वह वस्तुत मानवीय प्रयोजन (motive) नही है। जब मानव आवेगो, बुभुक्षाओ से अपना तादात्म्य मानता है, तभी समीहा (will) प्रारम्भ होती है। यह सच है उसके कर्म उसकी अतीत इच्छाओ और अभिलाषाओ से निर्धारित होते हैं किन्तु उसके भीतर यह शक्ति विद्यमान है जिसके द्वारा वह अपनी एक उच्चतर स्थिति का बोध कर सकता है और भविष्य मे पूर्व की अपेक्षा महत्तर बन सकता है। इस सीमा तक उसमे एक स्वतन्त्र समीहा (free will) है।

नैतिक दर्शन

ग्रीन का सबसे बड़ा योगदान नैतिक दर्शन या आचरणशास्त्र में है। उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से कहा है कि मानव म वह शक्ति है कि वह अपनी एक उच्चतर स्थिति को सोच सकता है, उसको चरितार्थ करने का प्रयत्न कर सकता है, सकल्प कर सकता है। इसीलिए वह एक नैतिक प्राणी है।

नैतिक श्रेय वही है जो एक नैतिक पुरुष की इच्छा की पूर्ति करे। वास्तविक श्रेय वह उद्देश्य है जिसको एक नैतिक पुरुष का आधारभूत आत्मा अपना ऐकान्तिक श्रेय मानता हो, जिसको वह निरपेक्ष रूप से अपना परम इष्ट, मुख्य पुरुषार्थ समझता हो। वह उद्देश्य केवल एक व्यक्ति का नही, सभी मानव का परम श्रेय, परम इष्ट है। नैतिक आदर्श वही है जिसमे अपना तथा औरो का भी श्रेय चरितार्थ होता हो। नैतिक आदर्श प्रकृति की देन नही है। उसका उद्भव अतिप्राकृतिक है। जिस प्रकार व्यक्ति की सवेदनो को सघटित और व्यवस्थित करने की शक्ति एक निरपेक्ष परम सत् का सकेत करती है जो कि समस्त विश्व का सघटन करता है, उसी प्रकार हमारी इच्छाओ को व्यवस्थित और नियन्त्रित करने की शक्ति उस परमात्मा का सकेत करती है जो कि हमारे भीतर से अपने नैतिक आत्मबल को प्रकट करता है।

समीक्षा

ग्रीन की विशेषता यही है कि उन्होने काण्ट के दर्शन मे जो द्वैत निहित था उसका बहुत सन्तोषजनक निराकरण कर दिया। यद्यपि उन्होन एक निरपेक्ष सत् (absolute) का प्रतिपादन किया है जो कि एक आत्मिक तत्त्व (spiritual principle) है, तथापि उन्होने यह नही बतलाया कि विश्व का उस तत्त्व से किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ।

उन्होंने सम्बन्धो पर बहुत बल दिया है और इसमे सन्देह नही कि मानसिक चिन्तन का सम्बन्ध मुख्य तत्त्व है, किन्तु जैसा कि ब्रैडले ने प्रतिपादित किया है, सत् और सम्बन्धगर्भित मानसिक चिन्तन एक नही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

GREEN, T H, *Prolegomena to Ethics*

2. मैक्टागर्ट (1866-1925)

[मैक्टागर्ट का सत्त्वमीमांसीय चिद्वाद; समीक्षा।]

मैक्टागर्ट चिद्वाद में विश्वास रखते हैं, किन्तु उनका चिद्वाद हीगल के चिद्वाद से भिन्न है। हीगल के चिद्वाद में व्यक्तित्व का महत्त्व कम है। मैक्टागर्ट ने व्यक्तित्व पर अधिक बल दिया है। उनके मुख्य ग्रन्थ हैं: *The Nature of Existence; Studies in Hegelian Cosmology;* और *Some Dogmas of Religion.* उनका नव्य चिद्वाद अपने ढंग का निराला है।

सत्त्वमीमांसीय चिद्वाद

मैक्टागर्ट अपने चिद्वाद को सत्त्वमीमांसीय (ontological) चिद्वाद कहते हैं। क्योंकि उनका दर्शन सत्त्व (existence) की परीक्षा से ही प्रारम्भ होता है और उस दर्शन का उपसंहार भी इसी सिद्धान्त से होता है कि सत्त्व आध्यात्मिक (spiritual) है। उनका मुख्य ग्रन्थ है. *The Nature of Existence.*

उनका कहना है कि सत्त्व एक निश्चित सत्य है। कोई भी सत्त्व का निराकरण नहीं कर सकता। किन्तु सत्त्व वस्तुओं का गुण है। गुण (quality) द्रव्य (substance) का ही होता है। इसलिए यह भी एक निश्चित सत्य है कि एक द्रव्य है जिसका गुण सत्त्व है। इसके साथ ही और तथ्य निश्चित है कि जो कुछ भी सत् है उसमें सत्त्व के अतिरिक्त और भी गुण होता है, क्योंकि कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं मिल सकता जिसका केवल सत्त्व गुण हो और उसके अतिरिक्त कोई अन्य गुण न हो।

द्रव्य वह ऐक्य (unity) है जो अपने गुणों में अभिव्यक्त होता रहता है। अनेक द्रव्य मिलकर एक वृहद् द्रव्य बनते हैं। यह वृहद् द्रव्य विश्व है। किन्तु भूतवस्तु (matter) का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। हम प्रत्यक्षों (perceptions) के आधार पर भूतवस्तु का अनुमान करते हैं, भूतवस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते। केवल आत्मा ही एक ऐसा द्रव्य है जिसका साक्षात् अनुभव हो सकता है। विश्व भिन्न आत्माओं की समष्टि है। इसलिए वह एक आत्मिक समष्टि (spiritual whole) है—वह निरपेक्ष, ऐकान्तिक (absolute) है। किन्तु वह निरपेक्ष सत्ता अन्य आत्माओं का ही समूह है। इसलिए विशेषता वैयक्तिक आत्माओं (individual selves) की ही है। मैक्टागर्ट अपने दर्शन को वैयक्तिक चिद्वाद (personal idealism) कहते हैं।

मैक्टागर्ट के अनुसार निरपेक्ष (absolute) वैयक्तिक आत्माओं की समष्टि मात्र है। वह इनसे अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। मैक्टागर्ट को स्रष्टा के रूप में ईश्वर में कोई विश्वास नहीं था। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र और अमर है। निरपेक्ष इन्हीं आत्माओं की व्यवस्थित एकता का नाम है। उसका स्वतन्त्र आत्मा नहीं है। वह आत्मचेतना विहीन है। निरपेक्ष एक संघ के समान है। जिस प्रकार एक संघ में स्वतन्त्र व्यक्ति परस्पर सहभाव रखते हुए रहते हैं वैसे ही परिमित वैयक्तिक आत्माएं संघ में पारस्परिक सहभाव के साथ अपनी स्वतन्त्रता और अद्वितीयता को अक्षुण्ण रखते हुए रहते हैं। निरपेक्ष यही संघ है, और कुछ नहीं। ईश्वर स्रष्टा नहीं है। उसमें अन्य मानवीय आत्माओं से ज्ञान और शक्ति अधिक हो सकती है। किन्तु वह भी एक परिमित आत्मा ही है। अन्य परिमित आत्माओं के समान वह भी नित्य और अमर है।

प्रत्येक आत्मा अमर है। वह अनेक जन्म ले सकता है। मैक्टागर्ट बहुजन्म सिद्धान्त (doctrine of plurality of lives) में विश्वास रखते थे। अनेक जन्म होने पर आत्मा एक ही रहता है। वह नित्य है। उसका अस्तित्व अन्तहीन है।

3. फ्रैन्सिस हरबर्ट ब्रैडले (1846-1924)

[परमतत्त्व का स्वरूप; मुख्य गुण और गौण गुण; विशेष्य और विशेषण; नकारात्मक उपसंहार—जगत् आभास मात्र है; परमतत्त्व का सरचनात्मक दर्शन; सत्य का क्रम; आत्मा का स्वरूप; दिक् और काल का स्वरूप; ईश्वर का स्वरूप; समीक्षा।]

फ्रैन्सिस हरबर्ट ब्रैडले ब्रिटेन के सर्वश्रेष्ठ चिद्वादी दार्शनिक माने जाते हैं। वह आधुनिक दर्शन के ज़ीनो कहे जाते हैं। उन्होने अपने *Appearance and Reality* मे अपने आतिभौतिक दर्शन का पूर्णतया प्रतिपादन किया है।

उनका कहना है कि विश्व ऐसे परस्पर सम्बद्ध पदो की सहति है जो कि विरोधो से भरे हुए हैं। अतः विश्व एक आभास (appearance) मात्र है। मूलतत्त्व (reality) कुछ और है। मूल या परमतत्त्व एक अखण्ड (undivided) समरस (harmonious) अनुभव है जिसमे उसकी अनन्त विधाए अन्तर्भूत है किन्तु एक दूसरे से विभक्त और सम्बन्धयुक्त (related) नही हैं।

परमतत्त्व का स्वरूप

निरपेक्ष परमतत्त्व (absolute) सर्वव्यापी, सर्वसंग्राही अनुभव स्वरूप है। यह अनुभव परिमित व्यक्तियो के अनुभव से भिन्न है। परिमित व्यक्तियो का अनुभव खण्डित होता है। परम अनुभव अखण्ड, अविच्छेद्य और समरस होता है। समस्त विश्व परम अनुभव मे निमज्जित रहता है, उसमे सारी विभिन्नताए विलीन हो जाती हैं। सभी परिमित अनुभव एक अपरिमित अनुभव के अविच्छिन्न अग है।

ब्रैडले का परमतत्त्व हीगल के परमतत्त्व की भाति चिन्मात्र (thought) अथवा विबोधमात्र (reason) नही है। परमतत्त्व वह परम अनुभव है जिसमे चित् (thought), सवेदन (feeling) और इच्छा (will) सभी अविभक्त रूप मे सम्मिलित है।

परमतत्त्व सम्बन्धधर्मी (relational) नही है। यद्यपि उसमे सभी कुछ विद्यमान है, तथापि यह सभी कुछ पृथक्-पृथक् रूप मे नही है। वस्तुओ के पृथक्-पृथक् रूप मे होने पर ही तो उनमे परस्पर सम्बन्ध की आवश्यकता हो जाती है।

परिमित व्यक्तियो को परमतत्त्व का पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है किन्तु उन्हे उसका एक साधारण ज्ञान सम्भव है। सवेदन मे, एक अव्यवहित प्रत्यक्ष मे, अपरोक्ष साक्षात्कार मे हमे समग्र का, अखण्ड का बोध होता है। इस समग्र बोध मे विभेद तो रहते हैं किन्तु वे एक दूसरे से सम्बन्धो द्वारा विच्छिन्न नही होते। ऐसा

अनुभव एक ऐसे अखण्ड अनुभव को इंगित करता है जिसमें विचार, संवेदन और इच्छा सभी एकीकृत होते हैं।

यह सब होते हुए भी ब्रैडले के परमतत्त्व और हीगल के परमतत्त्व में एक बात में समानता है। और वह यह है कि दोनों अंगी हैं। परमतत्त्व में जो परिमित वस्तुएं हैं वे समग्र पर आश्रित हैं और परस्पर भी अन्योन्याश्रयी हैं। फलत यदि हम एक परिमित वस्तु को समझना चाहें तो वह अन्य परिमित वस्तुओं की सहायता के बिना नहीं समझी जा सकती। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सब तार्किक चिन्तन एक परिमित वस्तु का अन्य परिमित वस्तुओं द्वारा सम्बन्धगत (relational) प्रक्रिया से समझना है। परन्तु एक परिमित वस्तु को अन्य परिमित वस्तुओं द्वारा समझने में आत्मविघात (self contradiction) उपस्थित होता है। चिन्तन परिमित वस्तुओं को सम्बन्धगत सापेक्ष रूप में जानने की प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में विघात या प्रत्याख्यान (contradiction) अनिवार्य है।

परमतत्त्व वह संहति है जिसमें आत्मसंगति (self-consistency) है, जिसमें किसी प्रकार का आत्म-विघात (self contradiction) नहीं है। वह एक वैयक्तिक सत्ता (personal) नहीं है। वह अतिवैयक्तिक (super-personal) है।

ब्रैडले ने व्यक्तित्व (personality) और अविभेद्य व्यक्तित्व (individuality) में अन्तर माना है। अविभेद्य व्यक्तित्व उसी में हो सकता है जिसमें पूर्ण आत्मसंगति होती है। अत अविभेद्य व्यक्तित्व केवल परमतत्त्व में ही हो सकता है, परिमित व्यक्तियों में नहीं। परिमित व्यक्ति केवल आभासी सत्ताएं है।

परिपूर्ण सत्ता केवल परमतत्त्व की है, क्योंकि केवल उसी में सर्वथा आत्मसंगति है। परमतत्त्व विभिन्नता से परे है। उसमें विभिन्नता का भी स्थान है, किन्तु उसके स्वरूप में सब विभिन्नताएं अवशोषित हो जाती हैं।

मुख्य गुण और गौण गुण (Primary and Secondary Qualities)

लॉक (Locke) तथा कुछ वैज्ञानिक यह कहते हैं कि कुछ गुण जैसे, रंग, स्पर्श, गन्ध, शब्द, स्वाद जिनके विषय में हमें प्राय धोखा हो जाता है भौतिक द्रव्य के मुख्य अथवा सारभूत (essential) गुण नहीं हैं। वे केवल गौण गुण हैं। वे किसी पदार्थ में स्वरूपत विद्यमान नहीं होते। जब किसी पदार्थ का हमारी इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है, तभी उसमें इन गुणों का भान होता है। उदाहरणार्थ, जब किसी पदार्थ का आंखों से सन्निकर्ष होता है तब हमें उसमें रंग का भान होता है। इस सम्बन्ध के बिना, गौण गुण की पदार्थ में स्वरूपत विद्यमानता नहीं मानी जा सकती। केवल विस्तृति (extension) ऐसा गुण है जो कि स्वरूपत पदार्थ में विद्यमान रहता है। प्रत्येक पदार्थ देश (space) में विद्यमान रहता है चाहे उसमें रंग इत्यादि हो या न हो। पदार्थ का विस्तिगुण—आकृति (shape), परिमाण

(size) के रूप मे—पदार्थ मे ही विद्यमान रहता है चाहे पदार्थ का किसी इन्द्रिय से सन्निकर्ष (contact) हो या न हो। लॉक इत्यादि दार्शनिक और भौतिकवाद (materialism) का ऐसा विश्वास है।

ब्रैडले का कहना है कि यह सिद्धान्त निम्न कारणो से अमान्य है:

1. यदि विततिरूप मुख्य गुण पदार्थ का सार है और रग, गन्ध इत्यादि उसके गौण गुण हैं, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुख्य और गौण गुण का परस्पर क्या सम्बन्ध है। यह कहने से काम नही चलेगा कि मुख्य गुण पदार्थ का स्वरूप है और गौण गुण उसका आभास (appearance) है। क्योकि फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि उस आभास की क्या स्थिति है। क्या वह आभास उसी पदार्थ का ही है अथवा उसका नही है। यदि वह उसी पदार्थ का ही आभास है तो वह अपने अवास्तविक वैशिष्ट्य से उस पदार्थ को भी विशिष्ट कर देगा। यदि आभास पदार्थ का नही है, तो फिर किसका है ? इस प्रकार एक उभयापत्ति (dilemma) आ धमकती है जिसका कोई समाधान नही मिलता।

2. यह कहा जाता है कि गौण गुण हमारे इन्द्रिय सन्निकर्ष से होता है और मुख्य गुण तो पदार्थ मे स्वरूपतः रहता है। यह तर्क भी सर्वथा भ्रान्त है क्योकि वितति (extensive) जिसे मुख्य गुण कहते है, की भी प्रतीति इन्द्रियसन्निकर्ष से ही सम्भव है। वितति का भी भान आख, स्पर्श अथवा मासपेशी के सवेदन द्वारा ही हो सकता है।

3 बिना गौण गुण के वितति की अवधारणा ही नही बन पाती। हम वितति मात्र को, बिना उसके साथ ही यह सोचे कि क्या वितति है—रग या आकृति, सोच ही नही सकते। वितति मात्र एक अवास्तविक, अभौतिक भावजगत् की धारणा है। बिना किसी गौण गुण के साथ अकेले वितति का कभी प्रत्यक्ष नही होता।

इसलिए ब्रैडले कहते हैं कि यदि गौण गुण आभास हैं तो मुख्य गुण का भी तो गौण गुण से पृथक् कोई अस्तित्व नही रहता है। भौतिकवाद जिस मुख्य गुण को गौण गुण की अपेक्षा वास्तविक माने बैठा है वह सर्वथा खोखला है। क्योकि गौण गुण के समान मुख्य गुण भी आभास ही है।

विशेष्य और विशेषण (Substantive and Adjective)

मुख्य और गौण गुण के समान विशेष्य और विशेषण का भी अन्तर तर्कहीन है। शकर की एक राशि को लीजिए। प्रचलित चिन्तन के अनुसार शकर की राशि विशेष्य है और श्वेत, मधुर, कठोर इत्यादि उसके विशेषण हैं। किन्तु यदि हम विशेषणो को निकाल दें तो विशेष्य मे कुछ रह ही नही जाता। विशेषणो से अतिरिक्त विशेष्य मे कुछ मिलेगा ही नही। यदि शकर माधुर्य से अभिन्न है तो

साथ ही साथ वह कठोर से अभिन्न नहीं हो सकता क्योंकि उस स्थिति में माधुर्य और कठोरता एक हो जायेंगे। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष्य, विशेषणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता और न उसे हम विशेषणों से अभिन्न ही कह सकते हैं।

यह कहा जा सकता है कि विशेष्य, विशेषणों के पारस्परिक सम्बन्ध का नाम है। परन्तु इसमें भी कठिनाइयां हैं। प्रश्न यह खड़ा होता है कि गुणों से सम्बन्ध का क्या सम्बन्ध है। श्वेत, और उसका मधुर और कठोर से सम्बन्ध, दोनों एक ही नहीं हैं। किन्तु यदि सम्बन्ध विशेषणों से भिन्न हो, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि विशेषणों के सम्बन्ध होते हैं।

यदि हम यह कहें कि सम्बन्ध पदों से भिन्न है, तो भी सम्बन्ध का स्वरूप दुर्बोध बना रहता है। यदि 'क' और 'ख' पद एक 'स' सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, तो उपर्युक्त मत के अनुसार जो यह मानता है कि सम्बन्ध पदों से भिन्न है, पदों से सम्बन्ध पृथक् हो जावेगा। तब फिर 'स' 'क' से बिना एक नये सम्बन्धकारी सम्बन्ध के कैसे सम्बद्ध हो सकता है। और यह नया सम्बन्ध भी 'क' और 'ख' से पृथक् है तो उसे सम्बद्ध करने के लिए एक नया सम्बन्ध चाहिए। इसलिए सम्बन्ध बाह्य है इस मत से भी काम नहीं चलेगा।

इसलिए जगत् को विशेष्य और विशेषणों द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

नकारात्मक उपसंहार—जगत् आभास मात्र है

हमारा विचार सम्बन्धमूलक है। उससे जो हम जगत् का चित्र बनाते हैं वह परस्पर विरोधों से भरा हुआ होता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विचार की जो सम्बन्धमूलक प्रक्रिया है उससे आभास मात्र मिल सकता है, सत्य नहीं।

परमतत्त्व का संरचनात्मक दर्शन

ब्रैडले का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक निषेध (negative) किसी न किसी विधि के आधार (positive basis) पर होता है, प्रत्येक नकारात्मक विभावना (negative judgement) के पीछे कोई न कोई सकारात्मक विभावना छिपी रहती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि यदि जगत् का सम्बन्ध-मूलक आकार आभास है तो इसका आधार सत्य है जिसमे पूर्ण आत्मसंगति है, जो अखण्ड है।

ब्रैडले ने इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो पर बल दिया है। सत्य को विघात या असगति से पूर्णरूपेण मुक्त होना चाहिए। विचार की दृष्टि से दृश्य जगत् मे जिन पदार्थों मे परस्पर विरोध प्रतीत होता है वे पदार्थ सत्य मे विरोध से मुक्त हो जाते है।

सत्य एक ही होता है। वह समरस होता है। सत्य अनेक नही होता।

सत्य मे एक सर्वसंग्राही सामरस्य होता है। इसलिए उसका अपना अविभक्त निजत्व है। वह एक सम्पूर्ण सामान्य है। काण्ट के स्वलाक्षण्य के समान वह दृश्य जगत् का अपवर्जक नही है। दृश्य जगत् उसमे अन्तर्निहित है।

परमतत्त्व का भूतवस्तु (matter) अनुभव है। परन्तु यह अनुभव व्यक्ति-सापेक्ष चिद्वाद (subjective idealism) नही है। प्रमाता (subject) और प्रमेय (object) का भेद हमारी विचार-सरणि करती है जो कि अखण्ड अनुभव को दो मे खण्डित कर देती है। अनुभव तो एक और अखण्ड होता है जिसमे प्रभेद (distinction) तो हो सकता है किन्तु खण्ड (division) नही हो सकता।

परिमित अनुभव एक अखण्ड अपरिमित अनुभव मे विलीन हो जाता है। ब्रैडले का परमतत्त्व न तो एक स्वसवित्तियुक्त आत्मा है, न व्यक्ति। परमतत्त्व व्यक्ति नही है, क्योकि वह व्यक्ति मे कहीं अधिक है। वह अतिवैयक्तिक है।

परमतत्त्व धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर नही है। ईश्वर पूजा की वस्तु है। इस-लिए वह सर्वसग्राही तत्त्व नही हो सकता। ईश्वर परमतत्त्व का आभास मात्र है।

सत्य का क्रम (Degrees of Reality)

सभी परिसीमित व्यक्ति परमतत्त्व की भिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति मात्र है, अपूर्ण खण्ड हैं और त्रुटिपूर्ण हैं। हीगल का विश्वास था कि जीवन के उच्चतर प्रकार अधिक सम्पूर्ण और सामञ्जस्ययुक्त होते है। ब्रैडले इस सिद्धान्त से प्रभा-वित थे। उन्होने इस मत का प्रतिपादन किया कि सभी परिसीमित व्यक्ति सत्य के आभास मात्र है और इस कारण अपूर्ण है। किन्तु सभी समान रूप से अपूर्ण नही हैं। वह तथ्य जिसमे थोड़े ही से हेरफेर के साथ सामञ्जस्यता स्थापित की

जा सकती है औरों की अपेक्षा अधिक सत्य है। उदाहरणार्थ, जीवात्मा (soul) शरीर से अधिक सत्य है, क्योंकि जीवात्मा में शरीर से अधिक सामञ्जस्यता और सम्पूर्णता है। जिसमें अधिक सामञ्जस्य और आत्मसगति होती है वह सत्य के उतना ही निकट है।

जो अपूर्ण है, आभास है उसी में सत्य का भ्रम होता है। जो परमतत्त्व है उसमें भ्रम का कोई प्रश्न नहीं है। वह तो सर्वथा पूर्ण सत्य है।

आत्मा का स्वरूप

परिमित आत्माए सम्बन्धो के समुदाय हैं। प्रत्येक परिमित आत्मा का अतीत उसके वर्तमान से सम्बद्ध है और वह जगत् के नाना प्रकार के सम्बन्धो से जुड़ा है। शुद्ध आत्मा, अतिवर्ती आत्मा जो जगत् के सम्बन्धों से सर्वथा परे हो कल्पना मात्र है। ऐसे शुद्ध आत्मा का दैनिक जीवन से बिना किसी सम्बन्ध के लगाव नही माना जा सकता। अत सम्बन्धो से भरपूर परिमित आत्मा आभास मात्र है। प्रत्येक परिमित आत्मा विभिन्न सवेदनाओ, विचारो और भावनाओ का पुञ्ज मात्र है। इस पुञ्ज को आत्मा की सज्ञा देना समुचित नही होगा। दार्शनिक विश्लेषण द्वारा आत्मा के स्वरूप को नही जाना जा सकता।

स्मृति की अविच्छिन्नता की दृष्टि से भी आत्मा की स्थायी सत्ता नही सिद्ध होती। किसी की भी स्मृति सदा अविच्छिन्न नही रहती। यदि किसी की शल्य चिकित्सा होनी है तो सुषुप्ति कारक दवा के कारण तो स्मृति भग हो ही जाती है। अत यह सिद्ध करना सम्भव नही है कि आत्मा एक स्थायी सत्ता है। आत्मा आभास मात्र ही है। वह व्याघातो से भरा पडा है। उसमे पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित नही किया जा सकता।

दिक् (Space) और काल (Time) का स्वरूप

परमतत्त्व दिक् और काल से परे है, दिक् और काल की अवधारणा में सगति (consistency) का अभाव है।

पहले हम दिक् को लें। इसकी अवधारणा में विच्छेद और अविच्छिन्नता दोनो एक ही साथ विद्यमान है। और ये दोनो परस्पर विरोधी हैं। दिक् विभिन्न अशो और उनके सम्बन्धो के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस असगति के कारण दिक् को आभास मात्र ही कह सकते हैं।

काल भी आभास मात्र है। काल की कल्पना हम एक रेखा के रूप में करते हैं। अतीत वर्तमान और भविष्य के सातत्य (continuum) को हम एक रेखा के रूप में समझते हैं। रेखा तो दिक् का ही रूप है। अत जो असगतिया दिक् के सम्बन्ध में उपस्थित होती हैं वे काल के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी।

यदि हम काल को अवधि (duration) माने तो उसके अंश भी अवधि ही होंगे। तो फिर काल के विभिन्न अंशों को एक दूसरे से पृथक् करना सम्भव न हो सकेगा। और अंशरहित काल की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए काल की अवधारणा असंगतियों से परिपूर्ण है। फलत काल भी आभास मात्र है।

ईश्वर का स्वरूप

धार्मिक जन ईश्वर को एक व्यक्ति समझ कर उसकी उपासना करते हैं। एक ओर ईश्वर एक परिमित सत्ता है और दूसरी ओर मानव एक परिमित सत्ता है। धार्मिक विचार मे इन दोनो मे एक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह हम देख चुके हैं कि सम्बन्धो की स्थापना मे असगति और व्याघात उपस्थित होते है। जिसम असगति होती है वह आभास मात्र ही है।

ईश्वर मानव की एक कल्पना मात्र है। जिस समय मानव परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है उस समय ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नही रह जाती। मानव का व्यक्तित्व उस समय परमतत्त्व मे विलीन और अवशोषित हो जाता है। परमतत्त्व का व्यक्तित्व नही होता। अत ईश्वर आभास मात्र है।

समीक्षा

ब्रैडले ने यह सिद्ध किया है कि मानव का चिन्तन सम्बन्धाश्रित है और परमतत्त्व का स्वरूप सब सम्बन्धो से परे है। अत मानव अपने चिन्तन द्वारा परमतत्त्व को नही जान सकता। केवल अव्यवहित सवेदना (immediacy of feeling) मे मानव को परमतत्त्व के स्वरूप की कुछ झलक मिल सकती है। भारतीय चिन्तन धारा का यह विश्वास है कि विचार करते करते चित्त जब निर्विकल्प अवस्था मे पहुच जाता है अथवा साधना द्वारा जब अह भाव का सर्वथा निर्वाण हो जाता है तब सम्बन्धाश्रित मन परमतत्त्व म विलीन हो जाता है, जो मन अभी चिन्तन कर रहा है वह दूसरी अवस्था मे परिणत हो जाता है, तभी परमतत्त्व का अनुभव हो सकता है। ब्रैडले के दर्शन मे इस प्रकार की साधना के ओर कोई सकेत नही हैं। अत ब्रैडले का दर्शन अज्ञेयवाद की ओर झुका हुआ है।

अलेक्जेण्डर का कहना है कि ब्रैडले ने दिक् और काल को दो भिन्न सत्ताए मानी हैं, किन्तु दिक् और काल केवल एक ही सत्ता के दो पहलू मात्र हैं। दिक्काल अपने मे एक अविच्छिन्न सत्ता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BRADLEY, F H, *Appearance and Reality*
—, *Essays in Truth and Reality*

4 बर्नार्ड बोसाँके (1848-1923)
(Bernard Bosanquet)

[परमतत्त्व का स्वरूप, विश्व का सामञ्जस्यीय स्वरूप, परिमित व्यक्तित्व का स्वरूप; सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वरूप, समीक्षा।]

बोसाँके ब्रैडले के दर्शन से बहुत प्रभावित थे, किन्तु वह ब्रैडले से इस बात मे सहमत नही थे कि हम विश्लेषणात्मक तार्किक बुद्धि से सत्य को नहीं जान सकते। उनके दर्शन मे विश्लेषणात्मक तार्किक बुद्धि का बडा स्थान है। उन्होने 1888 मे *Logic or the Morphology of Knowledge* नामक ग्रन्थ लिखा। 1920 मे *Implication and Linear Inference* नामक ग्रन्थ लिखा। 1912 मे उन्होने *The Principle of Individuality and Value* लिखा। इस ग्रन्थ मे भी उन्होने तार्किक बुद्धि को बहुत ऊचा स्थान दिया है।

उनका कहना है कि जो लोग आन्वीक्षिकी या तर्कशास्त्र (logic) के विरुद्ध यह कहते है कि इसके द्वारा सत्य को नही जाना जा सकता वे आन्वीक्षिकी के तात्पर्य को वस्तुत. समझते नही। आन्वीक्षिकी का यह तात्पर्य नही है कि हम विचारो का सूक्ष्मीकरण करने चले जायें और अन्त मे एक ऐसे सूक्ष्मीकरण (abstraction) की अवस्था पर पहुचें जहा दैनिक जीवन के वैभव और विविधता से कोई सम्बन्ध ही न रह जाय। आन्वीक्षिकी का आदर्श सूक्ष्मीकृत सामान्य (abstract universal) नही है, प्रत्युत सम्पूर्ण सर्वांगीण सामान्य (concrete universal) है। आन्वीक्षिकी का आदर्श है खण्ड से अखण्डता की ओर जाना, तथ्य को उसकी समग्रता मे समझना। हम वास्तविकता को तभी समझ सकते हैं जब अंश से अशी की ओर मुडें, जब हम किसी वस्तु को एक समग्र सहृति (system) का अश समझें जिसमे वह अश सहृति की मिथःसम्बन्धिता (interrelationship) से और अधिक सम्पन्न हो जाय। हम किसी अनुभव को ठीक तरह से तभी समझ सकते हैं जब हम उसको एक सहृति के अंश की तरह समझें। आन्वीक्षिकी समग्रता की, साकल्य की भावना है और इस दृष्टि से वह परमार्थ, इष्ट और स्वातंत्र्य का मूल है।

परमतत्त्व का स्वरूप

ब्रैडले के समान बोसाँके भी यह कहते हैं कि परमतत्त्व वह है जो समर ... सामञ्जस्यपूर्ण है, जिसमे कोई व्याघात नहीं है। जितनी भी परिमित वस्तुएं हैं, परिमित व्यक्ति हैं सब मे कुछ न कुछ व्याघात मिलता है। केवल परमतत्त्व मे

व्याघात नही है। उसमें सब व्याघात समाप्त हो जाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ब्रैडले और बोसांके की चिन्तन प्रक्रिया में भेद है। ब्रैडले कहते हैं कि परमतत्त्व को हम विचार द्वारा जान ही नही सकते। बोसांके यह मानते है कि विचार और अनुभव मे कोई विशेष अन्तर नही है। सारा जीवन, सारा जगत् विचार से व्याप्त है। विचार परमतत्त्व का लक्षण है। परमतत्त्व को एक तार्किक संहति (logical system) कहा जा सकता है। परमतत्त्व के स्वरूप को तार्किक बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है।

परमतत्त्व एक संहति है, सभी अनुभवो की एक विबोधात्मक समग्रता है, जिसकी सम्पूर्णता में ही विश्व के प्रत्येक अंश का स्पष्टीकरण और सम्पन्नता प्राप्त होती है।

परमतत्त्व वस्तुत: परमार्थ है। वह केवल परम वस्तु नही है, परम इष्ट भी है। यह सभी इष्टों या मूल्यों का प्रतीक है। समस्त विश्व में जितने भी मूल्य है वे उसमें सतत विद्यमान हैं। वह सदा परिपूर्ण है।

विश्व का रगमञ्चीय स्वरूप

बोसांके के अनुसार विश्व एक रगमञ्च के समान है। परमतत्त्व एक कलाकार है। वही विश्व-नाटक का प्रणेता है, वही अभिनेता भी है, सूत्रधार भी है, दृश्यों का चित्रकार भी है। जिस विश्व-नाटक की उसने कल्पना कर रक्खी है उसका सब कुछ वही है।

फिक्टे ने परमतत्त्व को एक नैतिक सत्ता के रूप मे देखा था। हीगल ने उसे एक विबोधात्मक सत्ता के रूप में देखा और बोसांके ने उसे तार्किय सामञ्जस्य के अतिरिक्त एक नाटककार के रूप मे भी देखा है।

इस विश्व-नाटक मे एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति भी कठिनाइयों का सामना करके, विपत्तियो से भिडकर, पापो का शोधन कर, अभिनेता की अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार वह परमतत्त्व के वैभव का सहभागी होता है और उसके परमानन्द का अनुभव कर सकता है।

परिमित व्यक्तित्व का स्वरूप

परिमित व्यक्ति (finite person) एक आभास (appearance) है। वह सम्पूर्ण व्यक्ति (individual) नही है। वह परमार्थ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की एक आंशिक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण अखण्ड व्यक्तित्व तो केवल अंशी मे ही हो सकता है। उसी अंशी पर ही परिमित व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए आश्रित है। परिमित व्यक्ति शरीर और बाह्य प्रकृति द्वारा परिसीमित है। उसकी संवेदनाएं, उसके विचार, उसका नैतिक आचरण एक ऐसे सत्य की ओर इंगित करते हैं

जिसमे उक्त अनुभवो की पूर्णता है। परिमित व्यक्तित्व की नियति तभी पूर्ण हो सकती है जब उसकी स्वकेन्द्रिता एक विशाल समग्रता मे समाविष्ट हो जाय। परमार्थ मे समाविष्ट होकर ही परिमित व्यक्ति यथार्थ व्यक्ति बनता है।

सम्पूर्ण अखण्ड व्यक्ति म कोई अन्तर्विरोध नही होता। परिमित व्यक्ति मे अन्तर्विरोध विद्यमान रहता है। उसके जीवन मे सघर्ष और कठिनाइयो की सदा हलचल रहती है। इसके कारण उसके जीवन मे अपूर्णता और असन्तोप बना रहता है। यही अपूर्णता और असन्तोप उसको एक अनन्त पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए विवश करते हैं। अश अशी से मिलने के लिए व्याकुल हो उठता है और उसमे समाविष्ट होना चाहता है।

सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वरूप

परमतत्त्व मे ही समस्त अनुभवो की समग्रता है। जो स्वयभू है, जो अपने आप मे पूर्ण है, जो किसी अन्य पर आश्रित नही है, वही वस्तुत सम्पूर्ण, अखण्ड, अविभक्त व्यक्ति हो सकता है। केवल परमतत्त्व स्वयभू और अपने आप मे पूर्ण है। वह सब विरोधो से मुक्त और समरस है। अत केवल परमतत्त्व सम्पूर्ण अविभक्त व्यक्ति (individual) है। परिमित सत्ताओ का अपूर्ण, विभक्त व्यक्तित्व है। परमतत्त्व मे समाविष्ट होने पर ही इनके व्यक्तित्व मे पूर्णता आ सकती है।

समीक्षा

बोसाँके का दार्शनिक सिद्धान्त ब्रैडले के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दोनो के सिद्धान्त मे मुख्य अन्तर यह है कि ब्रैडले परमतत्त्व को मन और वचन से परे मानते हैं, किन्तु बोसाँके परमतत्त्व को एक तार्किक सहति समझते हैं। परमतत्त्व केवल तार्किक सहति नही हो सकता। वह ऐसा चित् है जिसमे ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान इत्यादि सम्बन्धगत धर्म विलीन हो जाते हैं, जिसमे अनुभव की समरसता, समग्रता और एकता विद्यमान हैं।

बोसाँके ने परमतत्त्व को इष्टो या मूल्यो का प्रतीक माना है। वस्तुत परमतत्त्व सभी मूल्यो का स्रोत या योनि है। मूल्य मानव के लिए हैं। परमतत्त्व अपने आप म परमानन्द है, पूण है। यही पूणता औरो के लिए लक्ष्य या परम इष्ट बन जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BOSANQUET, B *The Principles of Individuality and Value*
—, *Value and Destiny of the Individual*

(ख) अमरीकी चिद्‌वाद

1. जोसिया रायस (1855-1916)

[परमतत्त्व का स्वरूप, परिमित व्यक्तित्व; परिमित व्यक्तियों की स्वतन्त्रता; काल या सिद्धान्त; समीक्षा।]

जोसिया रायस अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक थे। उन्होने जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट और हीगल का विशेष अध्ययन किया था। किन्तु उनका दर्शन जर्मन चिद्‌वाद का अमरीकी संस्करण नही है। उन्होंने अपने ढंग से चिद्‌वाद का प्रतिपादन किया है। उनके तीन मुख्य ग्रन्थ हैं : *Spirit of Modern Philosophy; The World and the Individual Philosophy of Loyalty*. उनके चिद्‌वाद का सार *The World and the Individual* मे व्यक्त हुआ है।

परमतत्त्व का स्वरूप

रायस ज्ञान मीमांसा के मार्ग से दर्शन की ओर गये हैं। उनका कहना है कि मिल और बर्कले ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा सब अनुभव केवल संवृति या प्रपञ्च (phenomena) अथवा अपने प्रत्ययो (ideas) का है। हमें ऐसे किसी जगत् का अनुभव नहीं होता जो चित्त पर आश्रित न हो। किन्तु मिल ने एक प्रकार से जगत् की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार कर ली थी। उन्होंने कहा था कि हम जगत् को संवेदनो की सनातन सम्भावनाएं (permanent possibilities of sensation) कह सकते हैं। रायस का कहना है कि ये सम्भावनाए क्या हैं। ये भी तो चित्त की कल्पना मात्र है। अपने खण्डित अनुभव से एक सनातन जगत् तक पहुचने का एक ही उपाय है। और वह यह है कि एक निरपेक्ष अखण्डित अनुभव (absolute experience) जिसके प्रत्यय सदा विद्यमान हैं, जिसको सब कुछ ज्ञात है, और जिसके लिए सभी तथ्य उसके विश्वव्यापी नियम के अधीन हैं। यही निरपेक्ष अखण्डित अनुभव परमतत्त्व है। यदि हम एक अखण्ड, सतत विद्यमान जगत् मानते हैं तो हमें एक निरपेक्ष, अखण्ड, सनातन अनुभव मानना ही पड़ेगा।

केवल एक निरपेक्ष अखण्ड अनुभव (absolute experience) समस्त सत्ता का अनुभव कर सकता है। यही अखण्ड अनुभव परमतत्त्व है जिसके सामने प्रत्येक अनुभव का रहस्य खुला हुआ है। समस्त काल, समस्त दिक् उस परमतत्त्व को

को विशेष महत्व देने में लगे रहे। अमेरिका के दार्शनिक उनसे इस बात के कारण अप्रसन्न रहे कि उन्होंने व्यक्ति को ईश्वर के हाथ में कठपुतली बना दिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

ROYCE, J., *The World and the Individual.*
—, *Lectures on Modern Idealism*

(ग) इटालीय चिद्वाद

1. बेनडेटो क्रोचे (1866-1952)

[निरपेक्ष सत् या परमतत्त्व की सम्पूर्णता; चित् की चार अभिव्यक्तियाँ : (1) चिन्तनपरक क्रियाशीलता—(क) अन्त:प्रज्ञा और सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता, (ख) प्रत्ययात्मक न्यायपरक क्रियाशीलता, (2) व्यावहारिक क्रियाशीलता (अन्त:प्रज्ञात्मक और प्रत्ययात्मक), विशिष्टों का ऐक्य, समीक्षा।]

इटली में चिद्वाद की जो विभिन्न प्रवृत्तियाँ चल रही थीं वे सब क्रोचे में केन्द्रीभूत हो गयी। वह एक साहित्यिक व्यक्ति थे, कला के मर्मज्ञ आलोचक और इतिहास के विख्यात विद्वान थे। वह दर्शन के न तो अध्यापक थे, न परम्परागत विद्यार्थी। वह साहित्य, कला और इतिहास के मर्म को ढूँढते हुए दर्शन की ओर प्रवृत्त हुए। अत: दार्शनिक समस्याओं के समाधान में उनकी स्वकीयता स्पष्ट रूप से झलकती है। वह हीगल के चिद्वाद से अवश्य प्रभावित हुए, परन्तु उन्होंने हीगल का आँख मूँद कर अनुसरण नहीं किया। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया।

निरपेक्ष सत् या परमतत्त्व की सम्पूर्णता

हीगल के समान क्रोचे का भी यह विश्वास था कि परमतत्त्व चित् है, आध्यात्मिक है किन्तु वह न तो हीगल के विरोधसमाधान न्याय (dialectical method) के समर्थक थे और न इस बात को मानने के लिए तैयार थे कि प्रत्यय (idea, concept) परमतत्त्व का मुख्य वैशिष्ट्य है। चित् प्रत्यय मात्र नहीं है। उसमें अन्त:प्रज्ञा, प्रत्यय और समीहा सभी समान रूप से विद्यमान हैं। विबोध (rati-

onality) उसकी विविध प्रथाओं में से केवल एक प्रथा है। यही सब कुछ नहीं है। किसी कलात्मक सर्जन अथवा प्राकृतिक घटना का आधार तर्क या न्याय मात्र नही है। चित् के विभिन्न व्यापार हैं। वे सब चित् के अविभक्त जीवन में संश्लिष्ट हैं। उनके अनुसार दर्शन इतिहास है। इतिहास से तात्पर्य यह है कि, विश्व, जीवन परिवर्तनशील है। क्रोचे एक स्थितिशील (static) ऐकान्तिक परमतत्त्व (absolute) नहीं मानते थे। उनके अनुसार एक गतिशील, क्रियाशील चित् ही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त कोई परमतत्त्व नही है। चित् सर्जनात्मक है। सर्जनात्मक होने के कारण चित् इतिहास है। चित् इतिहास का निर्माण कर रहा है। अतः इतिहास विद्यमान सत् है। चित् केवल सर्जनात्मक नही है, वह व्याख्यात्मक भी है। इस दृष्टि से वह दर्शन भी है।

चित् की चार अभिव्यक्तियां

चित् ही परम, निरपेक्ष सत् है। जो बाह्य पदार्थ कहे जाते हैं वे निरपेक्ष या अनाश्रित नही है। वे चित् की ही सृष्टि हैं। हम अपने अनुभव के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के विषय मे न कुछ सोच सकते हैं, न कुछ कह सकते हैं। केवल चित् ही एक ऐसी सत्ता है जिसे हम निःशंक रूप से जानते हैं। चित् अपने विश्व की स्वयं सृष्टि करता है। चित् एक वातायन रहित विश्व है। न तो बाहर से कुछ उसके भीतर आने वाला है, न उसके भीतर से कुछ बाहर जाने वाला है। चित् एक समग्र सत् है। चित् सदा क्रियाशील है। इस क्रियाशीलता के दो मुख्य भाग कहे जा सकते है: (1) चिन्तनपरक क्रियाशीलता (theoretic activity), और (2) व्यावहारिक क्रियाशीलता। चिन्तनपरक क्रियाशीलता की भी दो दिशाएं हैं: (क) अन्तःप्रज्ञा (intuition) और संवेदनात्मक अथवा सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता (aesthetic activity) और, (ख) प्रत्ययात्मक तथा न्यायपरक क्रियाशीलता (conceptual and logical activity)। व्यावहारिक क्रियाशीलता की भी दो दिशाएं हैं: (क) स्वार्थपरक क्रियाशीलता (economic activity), अथवा उपयोगिता (ख) परार्थपरक क्रियाशीलता (moral activity) अथवा नैतिकता।

ये चारों अभिव्यक्तियां विशिष्ट होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि ये सभी एक ही चित् की अभिव्यक्तियां हैं। मानसिक व्यापार की यही चार अभिव्यक्तियां हैं। क्रोचे की यह धारणा है कि चित् के अतिरिक्त और कुछ नही है। उनका कहना है कि चित् से परे और और कुछ नही है, अतिवर्ती अथवा विश्वातिग (transcendental) जैसी कोई सत्ता नही है। चित् की विशेष क्रियाशीलताएं ही दर्शन का विषय हो सकती हैं।

इतिहास की सारी घटनाएं आध्यात्मिक क्रियाशीलता के ही परिणाम हैं।

दर्शनशास्त्र आध्यात्मिक क्रियाशीलता की विशेषताओं का ही अध्ययन है। इसलिए दर्शन को ऐतिहासिक घटनाओं के आध्यात्मिक महत्व का विश्लेषण करना चाहिए। इसलिए एक प्रकार से दर्शन और इतिहास एक ही हैं।

चित् की क्रिया विरोधों का समाधान करती हुई चलती है, किन्तु वह न्यायपरक मात्र नहीं है। विबोध (rationality) आत्मा की क्रियाशीलता का अंश मात्र है। निरपेक्ष चित् की नाना विधाएं हैं। वह एक प्रत्यय अथवा न्यायपरक व्यापार में परिसीमित नहीं है। किसी कलात्मक सर्जन अथवा प्राकृतिक घटना का तार्किक आधार ढूंढ़ना व्यर्थ है। चित् की विभिन्न क्रियाएं अपने में पूर्ण हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध इसी में है कि वे सब एक ही आत्मा की क्रियाएं हैं और उसी के जीवन के अंश हैं।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है चित् की दो मुख्य क्रियाशीलताएं हैं: (1) चिन्तनपरक क्रियाशीलता (theoretical activity), और (2) व्यावहारिक क्रियाशीलता (practical activity)। प्रत्येक की दो दिशाएं हैं। चिन्तनपरक क्रियाशीलता की दो निम्नलिखित दिशाएं हैं: (क) अन्तःप्रज्ञा (intuition) और संवेदनात्मक अथवा सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता (aesthetic activity), और (ख) प्रत्ययात्मक तथा न्यायपरक क्रियाशीलता। पहले हम इन्हीं का प्रतिपादन करेंगे।

1. चिन्तनपरक क्रियाशीलता

(क) अन्तःप्रज्ञा और सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता—क्रोचे का कहना है कि ज्ञान की दो विधाएं हैं। ज्ञान या तो अन्तःप्रज्ञापरक (intuitive) होता है या प्रत्ययात्मक और न्यायपरक (logical)। पहला कल्पना द्वारा प्राप्त किया जाता है, दूसरा बुद्धि द्वारा। पहला विशेष (particular) का ज्ञान होता है, दूसरा सामान्य (universal) का। पहला प्रतिमाओं (images) द्वारा प्राप्त होता है, दूसरा प्रत्ययों (concepts) द्वारा।

क्रोचे ने अन्तःप्रज्ञा (intuition) शब्द का व्युत्पत्तिपरक (etymological) (लैटिन—intuere, to look at) अर्थ में प्रयोग किया है। शब्दतः जो ज्ञान बिना किसी माध्यम के साक्षात् प्राप्त हो वह अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है। उनके दर्शन में अन्तःप्रज्ञा शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उनके अन्तःप्रज्ञा शब्द में प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना, वेदना और वह देश और काल जिनमें इनकी अनुभूति होती है—का अन्तर्भाव है। संक्षेप में जो कुछ भी अव्यवहित, साक्षात्, वस्तुबोधक, विशेषबोधक, मूर्तबोधक (concrete) है उस सब का अन्तर्भाव अन्तःप्रज्ञा (intuition) में है। अन्तःप्रज्ञा का ज्ञान पूर्ण और अभ्रान्त होता है।

यथार्थवादियों ने प्रत्यक्ष (perception) को जो हौवा या जूजू बना रखा है

वह क्रोचे के लिए कोई समस्या नहीं है। चित् से बाहर कोई विषय है ही नहीं, तो फिर प्रत्यक्षीकरण की समस्या कैसी ? कुछ दार्शनिकों ने यह मान रक्खा है कि चित् से बाहर कुछ पदार्थ होते हैं जिनका चित् निश्चेष्ट रूप से प्रत्यक्षीकरण करता है। चित् अपने प्रत्यक्ष की सामग्री प्रतिमाओं के रूप में स्वयं निर्माण करता है। चित् के इस स्वभाव को क्रोचे ने संवेदनात्मक क्रियाशीलता (aesthetic activity) कहा है और जिस प्रक्रिया (process) अथवा साधन द्वारा संवेदनात्मक क्रियाशीलता सिद्ध होती है उसे क्रोचे ने अन्त प्रज्ञा अथवा ईक्षाशक्ति (intuition) कहा है। दूसरे शब्दों में चित् में अन्त.प्रज्ञा अथवा ईक्षाशक्ति (intuition) होती है और यह अपने को प्रतिमाओं (images) के रूप में अभिव्यक्त करती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्त:प्रज्ञा अथवा ईक्षा और प्रतिमा भिन्न हैं। इन दोनों को हम अलग-अलग रूप में भाषा की अपरिहार्य कठिनाई (exigency) के कारण बोलते हैं।

अन्त:प्रज्ञा आलोचन (sensation) को प्रतिमाओं में व्यक्त करती है। प्रश्न यह होता है कि क्या क्रोचे भी काण्ट की भांति आलोचन (sensation) को चित् से बाहर किसी स्वलाक्षण्य (things-in-itself) से उद्भूत मानते थे ? क्रोचे ने स्पष्ट रूप से कहा है, "Matter does not really exist but is posited for the convenience of exposition" (*The Philosophy of Croce* by Wildon Carr, p. 14) अर्थात् चित् से अतिरिक्त कोई भूतवस्तु नहीं है, वह केवल प्रतिपादन की सुविधा के लिए मान लिया गया है। अन्त.प्रज्ञा चित् की वह क्रियाशीलता है जो कि आलोचन, मनोवेगों (impulses) और वेदनाओं को वाह्यरूप देती है। मानसिक क्रियाशीलता के इस प्राथमिक धरातल पर स्वनिष्ठ (subjective) और वाह्यनिष्ठ (objective) का कोई भेद नहीं है। यह भेद बाद में न्यायपरक विभावनाओं (logical judgement) द्वारा होता है।

सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता (Aesthetic activity)—कला अन्त.प्रज्ञा पर प्रतिष्ठित है। शुद्ध अन्त:प्रज्ञा और सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता एक ही हैं। इनमे कोई भेद नहीं है। प्रत्येक सच्ची अन्त:प्रज्ञा या अन्तर्बोध साथ ही साथ अभिव्यक्ति (expression) भी है। कलाकार उस अभिव्यक्ति को बाह्य रूप देता है। वास्तविक कला तो आन्तरिक, मानसिक और आत्मनिष्ठ होती है। वह तो अन्त:प्रज्ञा की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है। उसको वाह्य रूप देना अभिव्यक्ति नहीं निष्पादन है, रूपायितकरण है। कवि वही कहता है जो भीतर कहा जा चुका है, गायक वही गाता है जो भीतर गाया जा चुका है, चित्रकार वही चित्रित करता है जो भीतर चित्रित हो चुका है। अन्त:प्रज्ञा (intuition) और अभिव्यक्ति (expression) एक ही मानसिक क्रिया के दो दिक् हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है। अतः अभिव्यक्ति (expression) तो आन्तरिक, मानसिक, क्रिया

है। जिसको हम साधारणत अभिव्यक्ति कहते हैं वह आन्तरिक अभिव्यक्ति का निष्पादन है, बाह्यकरण है, रूपायितकरण है।

सौन्दर्य जो कि अभिव्यक्ति है वस्तुत अन्त प्रज्ञा के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है। बाह्य कलात्मक वस्तु को सुन्दर कहना औपचारिक है। क्रोचे का यह मत कला का अभिव्यक्त्यात्मक सिद्धान्त (expressional theory of art) कहा जाता है। क्रोचे का कहना है कि सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता, कलात्मक प्रवृत्ति, चित् की सरलतम, प्राथमिक, मूलतम प्रवृत्ति है, वह मानसिक क्रिया की चरम, अति-वर्ती प्रवृत्ति नहीं है जैसा कि काण्ट ने समझ रक्खा था।

कला अथवा सौन्दर्य के इस सिद्धान्त से क्रोचे को बहुत ख्याति मिली। वह स्वय कला के बहुत मर्मज्ञ आलोचक थे।

(ख) प्रत्ययात्मक तथा न्यायपरक क्रियाशीलता—अन्त प्रज्ञा द्वारा अवबोध चित् की प्राथमिक क्रियाशीलता है। प्रत्ययो तथा न्यायपरक विभावनाओ judgements) द्वारा ज्ञान की द्वितीय क्रियाशीलता है। इनका परस्पर मानसिक वैशिष्ट्य (mental distinction) तो है, किन्तु ये क्रियाए वास्तविक जीवन म एक दूसरे से इतनी मिली जुली होती हैं कि वे पृथक् नही की जा सकती। जैसे आलोचन (sensation) अन्त प्रज्ञा का उपादान (data, matter) है वैसे ही अन्त प्रज्ञा प्रत्ययात्मक क्रियाशीलता का उपादान है।

क्रोचे का कहना है कि प्रत्ययात्मक ज्ञान विशेषो के सम्बन्ध का ज्ञान है और विशेषो का ज्ञान अन्त प्रज्ञा द्वारा होता है। अन्त प्रज्ञात्मक (intuition) ज्ञान के बिना प्रत्ययात्मक ज्ञान असम्भव है। अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान विशेष (particular) होता है, प्रत्यय सामान्य (universal) होता है। इस नदी का जल, इस झील का जल, इस गिलास का जल, इस वर्षा का जल, इत्यादि अन्त प्रज्ञात्मक ज्ञान है, जल मात्र का ज्ञान प्रत्ययात्मक ज्ञान है।

काण्ट के समान क्रोचे की भी यह धारणा थी कि अन्त प्रज्ञा या प्रत्यक्ष बिना प्रत्यय के अन्धी होती है और प्रत्यय बिना अन्त प्रज्ञा के रिक्त (empty) होता है। जिस प्रकार अन्त प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष सौन्दर्यबोधक क्रियाशीलता का विषयवस्तु है उसी प्रकार प्रत्यय न्याय (logic) का विषयवस्तु (subject matter) है।

क्रोचे ने प्रत्यय के दो भेद माने हैं शुद्ध अथवा प्रागनुभविक प्रत्यय (a'priori concepts) और आभासी प्रत्यय (pseudo concepts)

1 शुद्ध प्रत्यय वे हैं जो अन्त प्रज्ञा से उदभूत नही होते, किन्तु जो सभी अन्त प्रज्ञात्मक प्रत्यक्षो पर लागू होते है और उन्हे सार्वभौमिक बना देते हैं। शुद्ध प्रत्यय के तीन लक्षण हैं (क) वह सार्वभौमिक (universal) होता है (ख) वह अभिव्यञ्जक (expressive), और (ग) वह सहत या पूर्ण (concrete) होता है।

(क) शुद्ध प्रत्यय सार्वभौमिक होता है। अर्थात् वह प्रत्येक अन्त:प्रज्ञात्मक बोध पर लागू होता है। वह जीवन के प्रत्येक अनुभव में विद्यमान होता है। गुण, विवर्तन (evolution), अभिव्यक्तता अथवा सौन्दर्य, उद्देश्य शुद्ध प्रत्यय के उदाहरण हैं। हमें ऐसा कोई अन्त:प्रज्ञात्मक बोध या अनुभव नहीं हो सकता जिसमें कोई गुण न विद्यमान हो, जिसमें विवर्तन न होता हो, जो अभिव्यञ्जक न हो और जो उद्देश्यहीन हो। शुद्ध प्रत्यय जीवन के प्रत्येक अनुभव या अन्त:प्रज्ञात्मक बोध में विद्यमान या अन्तर्वर्ती (immanent) होता है। शुद्ध प्रत्यय केवल अन्तर्वर्ती ही नहीं होता, वह अतिवर्ती (transcendent) भी होता है। अर्थात् वह केवल हमारे अनुभवों के कुल योग (sum) में निश्शेष नहीं हो जाता, उनके अतिरिक्त भी विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि गुण का प्रत्यय प्रत्येक अनुभव में विद्यमान है तथापि वह उसमें भी लागू होगा जिसका अनुभव अभी तक मानव को हुआ ही नहीं है। कोई गुणहीन अनुभव न हुआ है, न हो सकेगा।

(ख) प्रत्येक शुद्ध प्रत्यय अभिव्यञ्जक (expressive) भी होता है। वह न्यायपरक क्रियाशीलता (logical activity) की अभिव्यञ्जना (expression) है, जैसे संवेदनात्मक क्रियाशीलता (aesthetic activity) की अभिव्यञ्जना अन्त:प्रज्ञात्मक बोध या प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रतिमा (image) अन्त:प्रज्ञा (intuition) का व्यवस्थित रुप है, उसी प्रकार प्रत्यय न्यायपरक क्रियाशीलता का व्यवस्थित रूप है।

(ग) प्रत्येक शुद्ध प्रत्यय पूर्ण (concrete) होता है। पूर्ण से क्रोचे का तात्पर्य है कि वह यथार्थ होता है। वह हमारे अनुभव में निहित रहता है, वह प्रत्येक अन्त:प्रज्ञात्मक बोध मे निहित होता है। यतः अनुभव ही वस्तुभूतसत् (reality) है अत: जो कुछ भी वस्तुभूतसत् है, जो कुछ भी यथार्थ है, वह प्रत्ययात्मक है।

शुद्ध प्रत्यय की पूर्णता उसको आभासी प्रत्ययो (pseudo concept) से भिन्न सिद्ध करती है। आभासी प्रत्यय जैसे, घर, जल, त्रिभुज, मनुष्य इत्यादि विद्यमान वस्तुओ के केवल वर्ग के नाम है। घर के आभासी प्रत्यय की, घरों की समष्टि के, उनके कुल योग के अतिरिक्त, कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। वह केवल एक मानसिक संक्षिप्त लिपि (mental short-hand) है जिसमे चित्त विद्यमान घरों में से कुछ सामान्य लक्षण अलग कर लेता है और उन्हें घर के प्रत्यय में सम्मिलित कर लेता है।

2. विज्ञान के प्रत्यय आभासी होते हैं। उनके द्वारा वह हमारे अनुभवों का वर्गीकरण करके उनको भिन्न-भिन्न नाम देता है। इन आभासी प्रत्ययों का महत्व केवल उनकी उपयोगिता में है। विज्ञान आभासी प्रत्ययों का प्रयोग करता है। अतः वह अपूर्ण (abstract) है। दर्शन शुद्ध प्रत्ययों का प्रयोग करता है, अतः वह पूर्ण (concrete) है। एक प्रकार से दर्शन न्याय (logic) है, क्योंकि

न्याय ही शुद्ध प्रत्ययों का अध्ययन करता है।

अन्त:प्रज्ञा और प्रत्ययन दोनों विशिष्ट क्रियाएं हैं, किन्तु दोनो परस्पर सम्बद्ध और अविच्छेद्य हैं। दोनों से ज्ञान प्राप्त होता है। अभिव्यक्ति दोनों का समान रूप से लक्षण है। जिस अन्त:प्रज्ञा और प्रत्ययन से कोई ज्ञान प्राप्त न होता हो अथवा जिसकी अभिव्यक्ति न हो सके वह दन्तकथा मात्र है।

अनुभव अन्त:प्रज्ञा और प्रत्ययन का संश्लेषण है, दोनो विशिष्टो का एकत्व है।

शुद्ध प्रत्ययों के द्वारा क्रोचे यह सिद्ध करने में सफल हुए हैं कि व्यष्टि अनुभव या चित् के अतिरिक्त एक सर्वव्यापी अनुभव या चित् है।

2. व्यावहारिक क्रियाशीलता

जैसे चिन्तनपरक क्रियाशीलता की दो दिशाए हैं: अन्त:प्रज्ञात्मक और प्रत्ययात्मक, वैसे ही व्यावहारिक क्रियाशीलता की भी दो दिशाए हैं: (क) स्वार्थपरक अथवा उपयोगी, (ख) परार्थपरक अथवा नैतिक।

जैसे कोई ज्ञान बिना अभिव्यक्ति के नही होता वैसे ही कोई भी समीहा (will) बिना बाह्यक्रिया के नही होती। प्रत्येक समीहा क्रिया या गति होती है, प्रत्येक क्रिया या गति समीहा होती है। क्रोचे के अनुसार परमतत्त्व आत्मा है। अतः उनके अनुसार प्रकृति की सभी गतियां समीहात्मक हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, व्यावहारिक क्रियाशीलता की दो दिशाए हैं: (क) स्वार्थपरक अथवा उपयोगी और (ख) परार्थपरक अथवा नैतिक।

समीहा का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु से व्यक्ति का हित हो सकता है उसका उपयोग करे। समीहा की इस क्रियाशीलता को क्रोचे ने स्वार्थपरक अथवा उपयोगी (economic activity) कहा है। व्यक्ति परिवार मे, समाज मे रहते है, अत. कोई भी व्यक्ति पूर्णरूप से सन्तुष्ट नही हो सकता जब तक कि उसके कार्य से, उसके व्यवहार से दूसरों का भी हित न होता हो।

दूसरों के हित के लिए जो कार्य किया जाता है उसको क्रोचे ने परार्थपरक अथवा नैतिक (moral activity) कहा है। जिस प्रकार अन्त.प्रज्ञा की पूर्णता प्रत्यय मे होती है, उसी प्रकार उपयोगी क्रिया की पूर्णता नैतिक क्रिया मे होती है। किन्तु व्यक्ति कोई ऐसा कार्य नहीं करता जिससे केवल दूसरो का हित हो और अपना कोई हित न हो। बड़े से बड़े आत्मत्याग मे आत्मतुष्टि की भावना निहित रहती है। नैतिक कार्य मे व्यक्तिगत प्रयोजन एक सार्वत्रिक रूप धारण कर लेता है। नैतिक कार्य मे स्वार्थ और परार्थ का, व्यक्ति और समाज दोनो के उद्देश्यों का, व्यक्तिगत इच्छा और कर्तव्य का, प्रेय और श्रेय का समन्वय हो जाता है।

क्रोचे ने प्रेय और श्रेय मे, स्वार्थ और परार्थ मे, उपयोगी और नैतिक में

सामञ्जस्य स्थापित किया है। नैतिकता की स्वकीय हितों पर, परार्थ की स्वार्थ पर इसीलिए विजय होती है क्योंकि नैतिकता सर्वोत्कृष्ट स्वकीय हित है।

विशिष्टों का ऐक्य (Unity of Distincts)

चिन्तनपरक क्रियाशीलता की अन्त.प्रज्ञा और प्रत्यय दो स्थितियां हैं। इसी प्रकार व्यावहारिक क्रियाशीलता की उपयोगिता और नैतिकता दो स्थितियां है। ये समझने के लिए पृथक् की गयी हैं। ये वस्तुत: एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं हैं, केवल विशिष्ट हैं। ये अनुभव की स्थितियां (moments) मात्र है, इनका परस्पर सश्लेष और ऐक्य है। ये परस्पर विरोधी नहीं हैं। परस्पर सहायक हैं।

हीगल और क्रोचे की आध्यात्मिक गतिविधि में यही विशेष अन्तर है। हीगल का विरोधसमाधान न्याय है। उनके अनुसार चित् की गति मे निधान (thesis) होता है, तब उसका विरोधी प्रतिधान (antithesis) होता है और अन्त मे दोनों विरोधी गतियो मे समाधान (synthesis) होता है। चित् की गति त्रिक है। क्रोचे का कहना है कि हीगल का यह विरोधसमाधान न्याय प्रत्येक स्थिति मे लागू नहीं हो सकता। जहां परस्पर विरोधी स्थितिया है वहा तो यह न्याय युक्तिसंगत कहा जा सकता है, किन्तु अवधारणाओ मे इसका प्रयोग युक्तिसगत नही है, जो परस्पर विरोधी नही हैं, केवल विशिष्ट हैं। उदाहरणार्थ, कला (art), धर्म, (religion) और दर्शन (philosophy) के त्रिक मे हीगल का विरोध-समाधान न्याय (dialectic) उपयुक्त नही कहा जा सकता। कला धर्म का प्रतिधान (antithesis) नही है। इन दोनो मे विरोध नही है और न तो दर्शन इन दोनो का समाधान (synthesis) है। ये परस्पर विशिष्ट अवश्य है, किन्तु परस्पर विरोधी नही है।

क्रोचे की धारणा है कि अन्त.प्रज्ञा, प्रत्यय, उपयोगिता और नैतिकता अथवा सौन्दर्य, सत्य, स्वार्थ और परार्थ ये आध्यात्मिक जीवन की चतुष्क गतिया है। ये विशिष्ट अवश्य है, किन्तु परस्पर विरोधी नही है। इन विशिष्टो का सश्लेप अथवा ऐक्य है।

समीक्षा

क्रोचे का चिद्वाद इस आधार पर प्रतिष्ठित है कि हम अपने अनुभव से बाहर नही जा सकते। यह सर्वाहंवाद (solipsism) जैसा प्रतीत होता है। किन्तु वह सर्वाहंवादी नही कहे जा सकते। उन्होंने अन्त.प्रज्ञा और प्रत्यय तथा उपयोगी और नैतिक का भेद व्यक्ति (individual) और अभिव्यापी (universal) के समन्वित आधार पर माना है। सत्य को प्राप्त करने मे और नैतिक आचरण मे व्यक्ति, केवल व्यक्ति नही रह जाता। वही व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, उसके

अनुभव और आचरण अभिव्यापी हो जाते है।

क्रोचे के चिद्‌वाद मे जो मुख्य त्रुटि दिखायी देती है वह यह है कि वह परमतत्त्व को व्यक्ति के अनुभव में सर्वथा अन्तर्वर्ती (immanent) और परिसीमित मानते है। व्यक्ति के अनुभव से परे अतिवर्ती (transcendent) अनुभव में उनका विश्वास नही है। हीगल इत्यादि चिद्‌वादियों ने परिसीमित व्यक्ति के अनुभव मे निहित आशय की न्यायपरक समीक्षा करके उससे परे परमतत्त्व की अवधारणा निश्चित की है। अत: उनमें व्यक्तिसापेक्ष चिद्‌वाद की त्रुटि नही रह गयी। किन्तु क्रोचे ने सब अनुभव को वैयक्तिक अनुभव तक ही सीमित रखा है। इसलिए उनके दर्शन मे व्यक्तिसापेक्ष चिद्‌वाद (subjective idealism) की झलक है।

क्रोचे ने मानव इतिहास और परमतत्त्व के अनुभव का तादात्म्य मान लिया है। यह भी दोषपूर्ण है। मानव-इतिहास तो परमतत्त्व का एक अंश मात्र है। मानव-इतिहास की अपेक्षा परमतत्त्व का क्षेत्र कही अधिक व्यापक है।

हीगल के दर्शन में विरोधों के समाधान के द्वारा विकास का अवकाश है। दो विरोधो के समाधान से एक नवीन संश्लेष की निष्पत्ति होती है। पुन: एक नया विरोध खड़ा होता है। पुन: उन विरोधों के समाधान से एक नया संश्लेष बनता है। इस प्रकार विकास होता चला जाता है क्रोचे के दर्शन में विकास का अवकाश नही है। क्रोचे के जो विशिष्ट (distincts) हैं वे स्थैतिक (static) है। वे परम सत् में सदा वैसे ही बने रहते है। उनके ऐक्य से पुन: एक उच्चतर संश्लेष का अवकाश नही है।

हीगल भी यह मानते है कि अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नही है, किन्तु वह यह कहते हैं कि परिसीमित (finite) का जो अव्यवहित अनुभव है वह चरम अनुभव नहीं है, वह आंशिक है, अपूर्ण है, अव्यापक है। वह केवल पूर्ण की ओर संकेत करता है। वह विरोधों से सपृक्त है। इन विरोधों का पूर्ण के अनुभव मे ही समाधान होता है। अपूर्ण मे गति इसीलिए होती है कि विरोधों का परिहार करते हुए वह एक ऐसे पूर्ण की ओर अग्रसर होता है जहां सभी विरोध समाप्त हो जाते है। क्रोचे का जो अव्यवहित अनुभव (immediate experience) है, उसमे पूर्ण की ओर बढ़ने की गतिशीलता नही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

CROCE, B., *What is Living and What is Dead in the Philosophy of Hegal?*
—, *History as the Story of Liberty.*
—, *Aesthetics.*

2. गिओवनी जेण्टाइल (1875-1944) का चिद्‌वाद

[चित् के शुद्ध क्रियात्व का सिद्धान्त, पूर्ववर्ती चिद्‌वादियों से अन्तर, चित् की प्रक्रिया; चित् की विशेषता, अनुभवातीत अहम् और आनुभविक अहम् का सम्बन्ध, चित् की अन्तर्हीनता, रहस्यवाद और बुद्धिवाद—दोनों की अपूर्णता; कला, धर्म और दर्शन, राजनीति-दर्शन; समीक्षा।]

गिओवनी जेण्टाइल (1875-1944) क्रोचे के समकालीन इटालीय दार्शनिक थे। उनके दार्शनिक विचारों से शिक्षित वर्ग बहुत प्रभावित हुआ था। उनकी दो मुख्य पुस्तकें हैं : *A Summary of Pedagogy* और *The Theory of Mind as Pure Act*. उनके दर्शन का विस्तृत प्रतिपादन द्वितीय पुस्तक में मिलता है। यह विल्डन कार द्वारा अंग्रेजी में अनूदित हुआ है। अपने जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने तानाशाह मुसोलिनी के फासिस्ट सिद्धान्तों का परिपोषण करना प्रारम्भ कर दिया जिससे उनकी ख्याति पर धब्बा लग गया।

क्रोचे के समान उन्होंने भी क्रियापरक चिद्‌वाद का समर्थन किया, इतिहास और दर्शन के ऐक्य पर बल दिया और परमसत् के सगुण रूप, उसके सहत वास्तविक (concrete) और अन्तर्वर्ती (immanent) रूप का विशेष उत्साह के साथ प्रतिपादन किया। जहां कहीं उनका क्रोचे से मतभेद है वहां उन्होंने काण्ट और हीगल के विचारों का आश्रय लिया है।

चित् के शुद्ध क्रियात्व का सिद्धान्त

जेण्टाइल का मुख्य सिद्धान्त यह है कि चित् एक शुद्ध क्रिया है, वह द्रव्य (substance) नहीं है। उनके अनुसार काण्ट ने भी अनुभवातीत अहम् (transcendental ego) को क्रिया के रूप में ही माना था। काण्ट का 'मैं सोचता हूं' (I think) जो प्रत्येक आनुभविक विभावना (empirical judgement) का सहचारी है वस्तुतः एक चेतसिक क्रिया ही है। यदि काण्ट के अनुभवातीत अहम् के निहितार्थ पर हम विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि चित् एक मूलभूत, चरम, निरपेक्ष क्रिया है जो विषय अथवा ज्ञेय नहीं बन सकती। जिस ज्ञाता को हम ज्ञेय से भेद करके पृथक् रूप में जानते हैं वह एक प्रकार से ज्ञेय ही है। आत्मसंवित्ति (self-consciousness) में हमें चित् के वास्तविक स्वरूप का संकेत मिलता है जो विषय-विषयी से परे है। जो चैतन्य ज्ञाता ज्ञेय, विषयी-विषय दोनों का साक्षी है वह दोनों से परे है, दोनों से अतीत है। अनुभवातीत अहम् चरम चेतसिक शुद्ध क्रिया है जो विषय में परिणत नहीं की जा सकती।

वास्तविक प्रमाता या ज्ञाता वह है जो उस ज्ञाता से भिन्न है जो ज्ञेय के विरोध या वैषम्य मे ही उपस्थापित होता है। चित् क्रिया है, कार्य या पदार्थ नही है। परम सत् या चित् क्रिया है, प्रवाह है। वह पदार्थ, द्रव्य, निष्पत्ति या कार्य नही है।

पूर्ववर्ती चिद्वादियो से अन्तर

जेण्टाइल का कहना है कि उनके पूर्ववर्ती चिद्वादियो ने चित् को अचित् या जड के विरोध मे प्रत्युपस्थापित करके चित् को एक पदार्थ या द्रव्य की श्रेणी मे रख दिया है, किन्तु चित् सर्वथा और सर्वदा शुद्ध क्रिया है। वह पदार्थ या द्रव्य की कोटि मे नही रखा जा सकता। चित् की उसकी अभिव्यक्तियो के अतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता नही है। चित् को हम अनुभव भी कह सकते हैं, किन्तु हमको यह ध्यान रखना होगा कि इस सन्दर्भ मे अनुभव का अर्थ है अनुभव की क्रिया, अनुभव की अन्तर्वस्तु (content) नही।

जेण्टाइल वैचारिक क्रिया (theoretical activity) और व्यवहारात्मक क्रिया (practical activity) के भेद को ठीक नही मानते। उनका कहना है कि परम सत् या चित् का स्वरूप सर्जनात्मक है। अत उसके लिए वैचारिक क्रिया और व्यवहारात्मक क्रिया का भेद लागू नही हो सकता।

चित् के क्रियात्मक स्वरूप का अतिक्रमण नही हो सकता, क्योकि क्रियात्मकता ही चित् का जीवन है।

काण्ट ने एक अतिवर्ती, अनुभवातीत तत्त्व माना था, किन्तु वह स्पष्ट करने मे समर्थ न हो सके कि वह तत्त्व सभी ज्ञान और सत्ता का सर्जनात्मक सार है।

हीगल ने चित् की सर्जनात्मक शक्ति को समझा था, किन्तु उसके विस्तार और प्रयोग के समय वह भी भ्रान्ति मे पड गये। उदाहरणार्थ, उन्होने सत्, असत् और भवत् के प्रमापकों (categories) का वर्णन चित् के सर्जनात्मक प्रक्रम के रूप मे न करके उनका असहत, निश्चल, निर्जीव अवधारणाओ के रूप में वर्णन किया है।

प्लेटो और अरस्तू ने भी वस्तुओ का परमसत् से विवर्तन का वर्णन करते समय परमसत् को एक पदार्थ के रूप मे माना है, चिन्तनात्मक क्रिया के रूप मे नही।

चित् की प्रक्रिया (Dialectic)

जेण्टाइल बार-बार कहते है कि चित् चिन्तन (thinking) है, न तो वह चिन्ता (thought) है और न चिन्ता का विषय (object of thought)। इसलिए उन्होने चिन्तन की ही प्रक्रिया या गतिविधि का वर्णन किया है।

उनकी धारणा है कि चित्, जिसका स्वरूप चिन्तन है, से ही ज्ञाता और ज्ञेय दोनो का विवर्तन (evolution) हुआ है। चित् अनादि और अनन्त है। आदि और अन्त तो स्थित्यात्मक (static) धारणाए हैं। चित् तो गत्यात्मक है,

प्रवाह है। चित् का विकास अवस्थितियों के अनुक्रम (succession of states) के रूप मे नही होता। ऐसा मानने पर तो चित् स्थित्यात्मक हो जायेगा। चित् के विकास का अर्थ है अनेकत्व मे एकत्व की विद्यमानता। वृक्ष के विकास का अर्थ उसकी अवस्थितियों का अनुक्रम नही है। उसके विकास का अर्थ है भिन्न-भिन्न अवस्थितियों में, अनेकत्व मे एकत्व की विद्यमानता।

जेण्टाइल का कहना है कि अनेकत्व मे एकत्व की विद्यमानता का अर्थ यह है कि न तो अनेक की उत्पत्ति ऐसे एक से हुई है जो अनेक से रहित है और न एक की उत्पत्ति ऐसे अनेक से हुई है जिनमे एक निहित नही है। शुद्ध क्रिया के रूप मे चित् सदा अनेकत्व में एकत्व ही है।

जेण्टाइल की एकत्व-अनेकत्व के सम्बन्ध की अवधारणा संहत और सर्वांगीण (concrete) है, विविक्त (abstract) नही है। उनकी इस अवधारणा का भाव यह है कि अनेकत्व में एकत्व की वास्तविकता और जीवन है, क्योंकि एकत्व सत् नही, भवत् है; वह स्थित्यात्मक नही, गत्यात्मक है, सतत क्रियाशील है। एकत्व की अनन्तता अनेकत्व के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

यद्यपि क्रोचे ने यह माना है कि विशिष्टो (distincts) मे ऐक्य है, किन्तु ऐक्य के होते हुए भी उन्होंने विशिष्टो पर अधिक बल दिया है। जेण्टाइल ने अनेकत्व को चेतमिक क्रिया के एकत्व के अधीन माना है। उन्होंने एकत्व पर अधिक बल दिया है।

चित् की विशेषता

चित् की यही विशेषता है कि जो कुछ भी हम जानते या कहते है सबका वह ज्ञाता या द्रष्टा है। अज्ञात की भी अवधारणा (concept) का कोई अर्थ नही है जब तक हम उसका सम्बन्ध किसी चित् से न मानें जिसके लिए वह अज्ञात के रूप में ज्ञात है।

सब पदार्थो की व्याख्या केवल चित् द्वारा हो सकती है क्योंकि चित् अनन्त और सर्वसग्राही (all-inclusive) है। अतः चित् ही परमसत् है।

जेण्टाइल का चिद्‌वाद स्वनिष्ठ चिद्‌वाद (subjective idealism) नही है। उनका चित् आनुभविक अहम् (empirical ego) नही है। वह परम सत् है और आनुभविक अहम् और उसके ज्ञेय पदार्थो से परे है। अनुभवातीत चित् ही वास्तविक आत्मा है। वस्तुत. वही सब अनुभवों का ज्ञाता या द्रष्टा है।

अनुभवातीत अहम् और आनुभविक अहम् का सम्बन्ध

अनुभवातीत अहम् आनुभविक अहम् मे निहित है। वह अनुभवातीत अहम् हमारे आध्यात्मिक जीवन के प्रत्येक स्पन्दन मे विद्यमान है। सामान्य विशेष मे

है और विशेष से अधिक भी। सामान्य क्रियाशील एकत्व है। उसकी क्रियाशीलता ही अनेक को उत्पन्न करती है और अनेक को एकत्व मे ग्रथित करती है। वह अनुभवातीत अहम् केवल अन्तर्वर्ती (immanent) नही है, वह अतिवर्ती (transcendent) भी है, क्योकि प्रत्येक विशेष उसके चिन्तन का विषय है।

चित् की अन्तहीनता

चित् परमतत्त्व है और वह अन्तहीन है। चित् की निरन्तरता उसकी अनन्तता का सूचक है।

दिक् और काल दोनो चित् की अभिव्यक्ति के माध्यम है। दिक् के माध्यम से चित् अपने को अनेकत्व मे व्यक्त करता है। दिक् का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। चित् ही दिक् को उद्भूत करता है। यत दिक् का जो आधार चित् है वह अन्तहीन है, अत दिक् भी अन्तहीन समझ लिया जाता है।

काल भी चित् की अभिव्यक्ति का माध्यम है। चित् की अनन्तता के कारण काल भी अनन्तता का साझीदार हो जाता है। चित् ही आत्मत्व का लक्षण है। यत चित् सदा क्रियाशील और अनन्त है, अत आत्मा अमर है।

मानव-व्यक्ति मे अनुभवातीत अहम् ही अनन्त और अमर होता है। यत कला, धर्म और दर्शन आत्मा की ही अभिव्यक्तिया है, अत ये भी अनन्तता के साझीदार कहे जा सकते है।

रहस्यवाद और बुद्धिवाद—दोनो की अपूर्णता

जेण्टाइल ने इस सिद्धान्त पर बल दिया था कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनो एक क्रियाशील, अनन्त अतिवर्ती चित् से उद्भूत होते है।

आलोचको का यह आक्षेप था कि इस सिद्धान्त से जीव की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही रह जाती। वह अतिवर्ती चेतना से अभिन्न हो जाता है। क्राचे ने कहा कि इस सिद्धान्त से व्यष्टि का समष्टि म विलयन (dissolution) सिद्ध होता है। यह तो रहस्यवाद (mysticism) है।

जेण्टाइल ने उत्तर मे कहा कि मेरा दर्शन भिन्नताओ का समाधान करता है, उनका उन्मूलन नही करता। वह ससीम का निरसन नहीं करता। वह ससीम का असीम से सम्बन्ध प्रतिपादित करता है। वह केवल यही बतलाता है कि ससीम की असीम के व्यतिरिक्त, व्यष्टि की समष्टि के व्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। मेरा दर्शन व्यष्टि की सत्ता का निराकरण नही करता, वह यही प्रतिपादित करता है कि व्यष्टि का समष्टि से विच्छेद अपूर्णता है, कृत्रिमता है। समष्टि की अभिव्यक्ति के रूप मे व्यष्टि वास्तविक है। समष्टि स पृथक्कृत व्यष्टि मिथ्या और कृत्रिम है। इस असहृत कृत्रिम व्यष्टि का मरण ही व्यष्टि का

वास्तविक अमरत्व है।

जिस प्रकार जेण्टाइल रहस्यवाद को एकांगीय समझते हैं, उसी प्रकार वह थोथे बुद्धिवाद का भी विरोध करते हैं। बुद्धिवाद की यह मान्यता है कि बुद्धि निश्चेष्ट ग्राहक है, पदार्थ या विषय उससे अतिरिक्त एक स्वतन्त्र वस्तु है जो उसके द्वारा ग्राह्य है। निश्चेष्ट चित् और स्वतन्त्र पदार्थ दोनों खण्ड दृष्टि के परिणाम हैं। वस्तुतः चित् निश्चेष्ट नहीं होता। सचेष्टता ही, क्रियाशीलता ही उसका स्वातन्त्र्य है। ज्ञात पदार्थ उसी क्रियाशील स्वातन्त्र्य की सृष्टि है।

अखण्ड चित् की क्रियाशीलता में ही पदार्थ का जीवन है। यह एक पूर्ण संहत सत्य है। बुद्धिवाद खण्ड दृष्टि से पदार्थ को चित् से पृथक् कर एक स्वतन्त्र रूप में देखता है और चित् को पदार्थ का निश्चेष्ट ग्राहक मात्र समझता है। यह खण्ड दृष्टि मिथ्या है।

अतः रहस्यवाद और बुद्धिवाद दोनों अपूर्ण हैं।

कला, धर्म और दर्शन

जेण्टाइल क्रोचे से इस बात मे सहमत है कि इतिहास चित् की क्रियाशीलता की मूर्त अभिव्यक्ति है, किन्तु दर्शन का कला और धर्म से क्या सम्बन्ध है, इस विषय में क्रोचे से सहमत नही है। इस विषय मे वह हीगल के विरोधसमाधान न्याय के अनुयायी हैं।

हीगल की भांति उनका मत है कि कला स्वनिष्ठ (subjective) होती है, धर्म वस्तुनिष्ठ (objective) होता है और दर्शन उस समवेत चित् की अभिव्यक्ति है जो कि स्वनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों का समन्वय है। शुद्ध क्रिया रूपी चित् का स्वरूप ही 'अनेकत्व मे एकत्व' है। अनुभवातीत अहम् ही प्रमाता और प्रमेय दोनो बनता है और दोनो के विरोध का अपने स्वरूपगत एकत्व द्वारा परिहार करता है।

कला की कृति कलाकार की कल्पना द्वारा प्रसूत होती है। उसका सम्बन्ध कलाकार के स्वनिष्ठ जगत् से ही है। कला की सामग्री चाहे प्रकृति से अथवा इतिहास से ली गयी हो, किन्तु वह कलाकार द्वारा परिणत होकर आध्यात्मिक जगत की, भावराज्य की वस्तु बन जाती है।

"कला यथार्थ (real) के बन्धन से निर्मुक्त प्रमाता का उन्नयन (exaltation) है।" "धर्म मन के बन्धन से निर्मुक्त वस्तुमत् का उन्नयन है।" धर्म एक ऐसे ईश्वर मे विश्वास रखता है जो उपासक से भिन्न एक वस्तुसत् है। इस प्रकार कला स्वनिष्ठ है और धर्म वस्तुनिष्ठ।

उक्त दृष्टि मे कला और धर्म दोनो एकपक्षीय हैं। वे दोनो एक ऐसे चित् की ओर इंगित करते है जो 'स्व' और 'वस्तु', 'प्रमाता' और 'प्रमेय' दोनो का मूल

है। यह चित् दर्शन का विषय है। अत कला और धर्म दोनो एकपक्षीय हैं। केवल दर्शन सर्वांगीण है, पूर्ण है। दर्शन कला और धर्म दोनो से अधिक उत्कृष्ट है।

राजनीति-दर्शन

जेण्टाइल ने राजनीति-दर्शन मे फासिस्टवाद का समर्थन किया। उन्होने यह प्रतिपादित किया कि राज्य को सर्व प्रकार से शक्तिशाली बनाना चाहिए। उसकी शक्ति की वृद्धि के लिए हिंसात्मक कार्य सर्वथा विहित है। तानाशाह मुसोलिनी के आदेश से उन्होन फासिस्टवाद का दार्शनिक समर्थन किया। उन्होने कहा कि मानव मे बुद्धि की अपेक्षा समीहा (will) का अधिक महत्व है। अतएव अपने राज्य की शक्ति बढान के लिए प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह दृढ सकल्प से विरोधी राज्यो से युद्ध करे। व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता तभी प्राप्त कर सकता है जब उसका राज्य शक्तिशाली हो।

समीक्षा

जेण्टाइल ने चिद्वाद को क्रोचे से अधिक युक्तिसगत बनाया। क्रोचे के स्थितियो और विशिष्टो के सिद्धान्त के कारण अनुभव की एकता का पूर्ण प्रतिपादन नही हो सका था। उनका कहना था कि अनुभव म आदि स ही अन्त-प्रज्ञा और प्रत्यय की विशिष्टता विद्यमान है। जेण्टाइल ने यह सिद्ध किया कि इन विशिष्टताओ की विद्यमानता आदि से ही मान लेने पर चित् की क्रियाशीलता दूषित हो जायेगी और उसकी एकता को सिद्ध करना सम्भव न हो सकेगा। हीगल का समाधान विरोधो का समाधान था। विरोधो क समाधान मे विकास का बीज विद्यमान है, क्योंकि परस्पर विरोधों का समाधान होता चला जाता है। किन्तु विशिष्टो के समाधान मे और आगे विकास का अवकाश नही रह जाता। विरोध न होने से फिर आगे समाधान की आवश्यकता ही नही रह जाती। क्रोचे का चिद्वाद स्थित्यात्मक हो जाता है। जेण्टाइल का कहना है कि चित् तो गत्यात्मक है, क्रियाशील है।

जेण्टाइल की विशेषता चित् की गतिशीलता, क्रियाशीलता का सिद्धान्त है। किन्तु वह यह न बतला सके कि इस क्रियाशीलता का उद्देश्य क्या है, किस ओर इसका प्रवाह चल रहा है।

उनकी एक बडी विशेषता यह भी है कि उन्होन यह स्पष्ट रूप स प्रतिपादित किया कि आनुभविक अहम् अनुभवातीत अहम् की अभिव्यक्ति मात्र है। अनुभवातीत अहम् ही आनुभविक अहम् का आश्रय और अधिष्ठान है।

जेण्टाइल का सबसे बडा दोष था फासिस्टवाद का दार्शनिक समर्थन। उन्होंने

हिंसात्मक क्रियाओं का समर्थन करके तानाशाह मुसोलिनी के अनुसरण का उपदेश कर दर्शन को कलंकित कर दिया।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

GENTILE, G., *The Theory of Mind as Pure Act.*

3. बर्गसाँ (1859-1941) का दर्शन

[उपक्रम, काल और परिवर्तन; भूतवस्तु और चित्; सर्जनात्मक विवर्तन—(क) यन्त्रवाद और उद्देशवाद—दोनों अनुपयुक्त; (ख) डार्विन का तथा अन्य जैविक सिद्धान्त अनुपयुक्त, (ग) विवर्तन के भिन्न मार्ग—सुप्ति, सहज प्रवृत्ति, बुद्धि, समीहा का स्वातन्त्र्य; नैतिकता और धर्म—संवृत और विवृत नैतिकता; स्थैतिक और गतिशील धर्म, समीक्षा।]

उपक्रम

हेनरी बर्गसाँ (Henri Bergson—1859-1941) फ्रान्स के सबसे बड़े दार्शनिक हो गए हैं। आधुनिक चिन्तकों में उनका बहुत उच्च स्थान है। 1900 ई० में वह 'कालेज द फ्रांस' में प्रोफेसर नियुक्त हुए और 1914 ई० में वह अकेडमी के सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने फ्रेन्च भाषा में कई पुस्तकें लिखीं जिनमें से अंग्रेजी में निम्नलिखित अनुवाद मिलते हैं: *Time and Free will*; *Matter and Memory*; *Creative Evolution*; *An Introduction to Metaphysics, Two sources of Morality and Religion.*

उन्होंने बहुत ही काव्यमय भाषा में दर्शन लिखा है। उनके दर्शन का चिन्तकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। विश्व भर में वह एक ही ऐसे दार्शनिक हैं जिन्हें नोबल पुरस्कार मिला है। वह कुछ समय तक Psychical Research Society के अध्यक्ष भी थे।

भौतिकवादी सारे विश्व की उत्पत्ति और विकास भूतवस्तु (matter) द्वारा मानता है, चिद्वादी चित् द्वारा मानता है। बर्गसाँ सब की व्याख्या जीवन के शब्दों में करते हैं। उनके दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त जीवन-शक्ति (elan vital) है। उनके अनुसार चित् (mind) और भूतवस्तु (matter) दोनों की उत्पत्ति जीवन-शक्ति से हुई है।

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बर्गसाँ का जीवनवाद (vitalism)

अध्यात्मवाद (spiritualism) और चिद्वाद (idealism) के अधिक निकट है, क्योंकि उनके अनुसार जीवन की आद्य अवस्था में भी आध्यात्मिक क्रियाशीलता की प्रारम्भिक झलक मिलती है और जीवन और चित् का निरन्तर व्यापक सहभाव परिलक्षित होता है। बर्गसाँ आत्मा या चित् को विबोध या विचार मात्र नहीं मानते, प्रत्युत उसे एक शक्ति या स्फुरता मानते हैं और उसकी उत्पत्ति जो विश्व है उसे वह प्रवाह या गतिशील मानते हैं, स्थितिशील (static) नहीं।

काल और परिवर्तन

काल के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। कोई काल की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। कोई काल की स्वनिष्ठ मानसिक सत्ता मात्र मानते हैं, उसकी बाह्य सत्ता को आभास मात्र कहते हैं। किन्तु काल की अवधारणा (concept) के विषय में सब का मत यह है कि काल सदृश क्षणों का अनुक्रम (succession) है। काल के ही समान गति (motion) को भी वे देश (space) में आनुक्रमिक क्षणों में भिन्न-भिन्न अवस्थिति (positions) का होना मानते हैं।

बर्गसाँ का कहना है कि काल यह अवधारणा केवल व्यावहारिक दृष्टि से बनायी गयी है। उन्होंने इसे गणितीय काल कहा है। किन्तु दार्शनिक विचार से काल की यह अवधारणा ठीक नहीं है। उनके अनुसार काल का वास्तविक रूप अविच्छिन्न सतत विद्यमान प्रवाह है जिसके लिए उन्होंने ड्यूरी (duree) शब्द का प्रयोग किया है। यही सतत प्रवहमान काल ही जीवन है, यही परमार्थसत् का सार है।

बाह्य जगत् में तो वस्तुएं देश में एक साथ आस पास स्थित हैं। बाह्य जगत् में अनुक्रम नहीं है। चित्त की अवस्थाओं में अनुक्रम है। बाह्य जगत् में काल या अनुक्रम चित्त द्वारा आरोपित होता है। किन्तु मानसिक जीवन के भी दो विभाव (aspects) हैं एक उपरितलीय (superficial) और दूसरा गभीरतर। उपरितलीय चित्त में अलग अलग आलोचन, वेदनाएं, भाव, विचार एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। अनुक्रम इसी उपरितलीय चित्त में होता है। किन्तु गभीरतर चित्त के अनुभव अविभाज्य रूप से परस्पर इस प्रकार मिले जुले होते हैं कि वे सब एक समस्त अनुभव होते हैं उनका कोई अनुक्रम नहीं बनता। घनिष्ठ प्रेम में, गम्भीर शोक में हम एक ऐसे समस्त समन्वित अनुभव का पता चलता है जो एकीभूत होता है जिसके घटक अलग नहीं किये जा सकते। हमारी समस्त सत्ता उसमें केन्द्रित रहती है। एक समस्त अनुभव होता है। इसमें अनुक्रम नहीं रहता। इसी में वास्तविक गति वृद्धि विकास परिवर्तन का रहस्य है। परिवर्तन तो है किन्तु अनुक्रम नहीं। अनुक्रमरहित सामासिक अनुभव का अविच्छिन्न प्रवाह

(duration) वास्तविक काल है।

विच्छेद्य अनुभवों का अनुक्रम और उनके लिए अलग अलग शब्द हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए है। यह अनुक्रम हमारी आन्तरिक अनुभूति और वास्तविक अविच्छेद्य सतत प्रवहमान काल को व्यक्त नहीं करता।

सदृश क्षणों का अनुक्रम—जो काल की अवधारणा है वह देश के नमूने पर बनायी गयी है जिसमें कि क्षण एक दूसरे के बाहर माने जाते हैं। हम लोग अपने मन में काल को एक रेखा द्वारा चित्रित करते हैं। काल का रेखा द्वारा चित्रण उसकी दैशिक (spatial) अवधारणा को सिद्ध करता है। इस प्रकार वास्तविक काल की अविच्छिन्न समग्रता विच्छिन्न क्षणों के अनुक्रम में खो जाती है।

काल की दैशिक अवधारण के द्वारा हम परिवर्तन तथा गति को समझने की चेष्टा करते हैं। इसलिए हम उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते। किसी मानसिक दशा अथवा भौतिक पदार्थ के परिवर्तन को हम अवस्थितिओं के अनुक्रम की शृंखला के रूप में समझते हैं। इसी प्रकार गति को हम भिन्न क्षणों के अनुक्रम के रूप में समझते हैं। किन्तु परिवर्तन और गति की यह अवधारणा सर्वथा भ्रामक है, क्योंकि इस प्रकार हम परिवर्तन और गति को स्थिति के ढाँचे में ढालकर जानने की चेष्टा करते हैं। परिवर्तन या गति भिन्न स्थितियों की पुनरावृत्ति नहीं है। इन स्थितियों के भीतर किसी एक ऐसी वस्तु की सतत विद्यमानता होनी चाहिए जो उनको एकसूत्र परिवर्तन का रूप दे।

वास्तविक काल और परिवर्तन का माप सम्भव नहीं है, क्योंकि वास्तविक काल नये नये प्रकारों और धर्मों का विकास है। वह सदृश प्रकारों का समुदाय मात्र नहीं है।

जीनो (Zeno) ने गति के सम्बन्ध में जिस विरोधाभास का वर्णन किया है वह गति की क्रिया के कारण नहीं है। वह गति की क्रिया और गतिमान व्यक्ति ने जितना रास्ता पार किया है इन दोनों के भ्रान्त मिश्रण के कारण है। रास्ते का अनन्त विभाग हो सकता है, गति की क्रिया का नहीं। इन दोनों की परस्पर पूर्ण अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न भ्रान्तिपूर्ण है। गति भागों का समुदाय नहीं है। वह एक अविभाज्य क्रिया है जो एकबारगी ही देशविशेष को आच्छादित कर सकती है।

बर्गसाँ के दर्शन में काल और परिवर्तन की अवधारणा का विशेष महत्त्व है। उनके अनुसार काल अनुक्रम नहीं है और न तो परिवर्तन ही विभिन्न अवस्थाओं का अनुक्रम है। काल सतत अविच्छिन्न प्रवाह (duration) है और वही वास्तविक परिवर्तन का स्वरूप है। अतीत, वर्तमान और भविष्य का भेद हमने अपने व्यावहारिक जीवन के लिए बना रखा है। अतीत का प्रवाह वर्तमान में विद्यमान है और वर्तमान निरन्तर भविष्य में घुलमिल रहा है।

भूतवस्तु (Matter) और चित्

यह हम देख चुके हैं कि बर्गसाँ के अनुसार परिवर्तन एक अवस्था या अवस्थाओं का अनुक्रम नहीं है। परिवर्तन सघटन की एक वास्तविक वर्धमान प्रक्रिया है। यही परमार्थसत् का स्वरूप है। परिवर्तन के पीछे किसी द्रव्य की कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है।

द्रव्य (substance) की कल्पना ही भ्रान्त है। न भूतवस्तु (matter) और न चित् द्रव्य है। भूतवस्तु केवल रूप, रग, प्रतिरोध इत्यादि का समुदाय है। जो कुछ प्रत्यक्ष होता है उसके अतिरिक्त उसके पीछे भूतद्रव्य नामक कोई वस्तु नहीं है। वस्तुत भूतवस्तु गति की वह प्रक्रिया है जो जीवन की गति के विपरीत है। बाह्य दृष्टि से भूतवस्तु वह है जिसका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है। आन्तरिक दृष्टि से वह एक गति है जो कि बाहर भूतवस्तु के रूप मे दृष्टिगोचर हो रही है। जीवन शक्ति का सतत प्रवाह चलता रहता है, किन्तु किसी विशेष दशा मे वह प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है और तब एक कमानी (spring) के झटके के समान उसम एक प्रतिलोमात्मक गति (inverse movement) होती है। यही प्रतिलोमात्मक गति भूतवस्तु (matter) है। गति तो यह भी है, किन्तु यह जीवन-शक्ति की अनुलोमात्मक गति के विपरीत होती है। अत यह प्रतिलोमात्मक गति है। यही भूतवस्तु है। जीवन-शक्ति एक अग्निबाण के समान है जिसके बुझे एक अवशेष पृथ्वी पर भूतवस्तु के रूप मे प्रकट होते है। अथवा जीवन-शक्ति की उपमा एक फुव्वार से दी जा सकती है जिसकी सीधी धार अनुलोम गति से चल रही है किन्तु जिसकी कुछ बूँदें पृथ्वी पर विलोम गति से छितरा जाती हैं। ये विलोम गति द्वारा छितरायी हुई बूँदें भूतवस्तु (matter) के समान है।

चित्त के भी दो पहलू हैं। वह आन्तरिक चेतना जो एकीभूत सवेदन या चेतना है, वास्तविक चेतना है। जो चेतना विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का अनुक्रम है, जो बाह्य प्रत्यक्षो म उलझी हुई है वह शुद्ध चेतना नहीं है।

जिन पदार्थों का हम देश (space) म एक दूसरे से बाहर प्रत्यक्ष करते हैं उनकी यह स्थिति केवल व्यावहारिक जीवन के लिए है। वस्तुत जगत् म सतत परिवर्तन का प्रवाह चल रहा है किन्तु हमारी बुद्धि प्रवाह के स्थान मे स्थितिशील पदार्थों को प्रस्तुत करती है। प्रकृति न बुद्धि को कार्य के ही लिए बनाया है। अत स्थितिशील पदार्थ केवल व्यावहारिक जीवन के लिए हैं। वे वास्तविक तथ्य को नहीं व्यक्त करते। बुद्धि का स्वभाव ही ऐसा है कि वह पदार्थों का अवच्छिन्न रूप म ग्रहण करती है।

चेतना मस्तिष्क द्वारा नहीं उद्भूत होती है। चेतना एक विशेष प्रकार की ऊर्जा (energy) है जिसको मस्तिष्क ग्रहण करता है और धारण करता है। मस्तिष्क चेतना का उत्पादन नहीं करता, वह चेतना की ऊर्जा का विशेष

उद्देश्य के लिए चयन करता है। वह चेतना का उत्पादक नही है। चेतना अतीत के अनुभव को अपने में संरक्षित रखती है और अनागत का सर्जन करती है।

सर्जनात्मक विवर्तन (Creative Evolution)

परमतत्त्व एक सर्जनात्मक शक्ति है जो अपने स्वातन्त्र्य से नये प्रकार की अभिव्यक्तियों का सर्जन करती रहती है। जगत् मे सारा विवर्तन इसी सर्जनात्मक जीवन-शक्ति द्वारा होता है। इसी जीवन-शक्ति की नानारूप में नयी-नयी अभिव्यक्तियां होती हैं। इसी जीवन-शक्ति के द्वारा हम नवीनता, एकत्व और सामञ्जस्य को समझ सकते हैं। बर्गसाँ यन्त्रवाद और उद्देशवाद दोनों के विरुद्ध है।

(क) यन्त्रवाद (mechanised) और उद्देशवाद (teleology) दोनों अनुपयुक्त—यंत्रवाद के अनुसार जो कुछ भी घटित होता है वह पहले होने वाले कारणों और परिस्थितियों से नियमित होता है। यदि हमें उन कारणों और परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान हो, तो हम पहले से ही बतला सकते है कि क्या होने वाला है। इस मत के अनुसार प्रत्येक घटना पहले से ही निर्धारित है, विकल्प की कोई सम्भावना नही है। भविष्य यन्त्रवत् नियत है।

बर्गसाँ का कहना है कि परमतत्त्व का स्वरूप अखण्ड काल है। वह बर्फ के गोले के समान है जो कि ज्यों-ज्यो वह आगे लुढकता जाता है त्यों-त्यो अधिक बर्फ को लपेटते हुए बढता चला जाता है। अखण्ड काल जीवन-शक्ति का ही एक रूप है। जीवन-शक्ति का ज्यों-ज्यों विवर्तन होता जाता है त्यों-त्यों वह नवीनताओं की सृष्टि करती हुई बढती है। अतः कोई भी पहले से ही उसके सर्जन के विषय मे कुछ नही बतला सकता।

परमतत्त्व का यन्त्रवादी मत केवल व्यावहारिक जीवन के लिए काम आ सकता है किन्तु वह पूर्ण सत्य नही व्यक्त कर सकता।

यन्त्रवाद की भांति उद्देशवाद भी विवर्तन का स्पष्टीकरण नही कर सकता। उद्देशवाद यह मान लेता है कि जो कुछ होने वाला है वह पहले से ही नियत है। उद्देशवाद एक उलटा यंत्रवाद ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि अतीत के आवेग के स्थान पर वह भविष्य का आकर्षण प्रस्तुत करता है।

जगत् मे जो थोडा बहुत सामञ्जस्य, साध्य के साथ साधन का समाभियोजन दिखायी देता है उसी के आधार पर उद्देशवाद की कल्पना की गयी है। किन्तु एक तो सर्वत्र सामञ्जस्य को सिद्ध करना सम्भव नही है। विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों मे जो संघर्ष और पारस्परिक विरोध दिखायी देता है वह उद्देशवाद के विरुद्ध प्रबल प्रमाण है। यह सत्य है कि जीवन-शक्ति की प्रवृत्तिया परस्पर पूरक होती हैं और जीवन का स्तर जितना ही ऊंचा होता है उतना ही उसकी प्रवृत्तिया परस्पर पूरक होती हैं, किन्तु जो कुछ भी पूरकत्व है वह जीवन-शक्ति के आवेग

मे है। वह हमारे पीछे है आगे नही।

(ख) डार्विन का तथा अन्य जैविक सिद्धान्त अनुपयुक्त—डार्विन तथा अन्य जीवशास्त्र के वैज्ञानिको ने विवर्तन को भौतिकी (physics) और रसायन विज्ञान (chemistry) का अनुकरण करके समझाने की चेष्टा की है। बर्गसाँ का कहना है कि उनकी जीवन की, विवर्तन की यान्त्रिक व्याख्या सर्वथा अनुपयुक्त है।

डार्विन के अनुसार भिन्न प्रकार के जीव भिन्न प्रकार के परिवेशो (environments) के समाभियोजन (adaptation) से उत्पन्न होते हैं। जीव की जो विशेषताए परिवेश के अनुकूल नही होती वे निरस्त हो जाती हैं और जो अनुकूल होती है वे अनुरक्षित रह जाती हैं। इस प्रकार उनकी विशेषताओ और अगो मे छोटे छोटे परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं और दीर्घ काल के बाद नये प्रकार के जीव उपस्थापित होते हैं।

बर्गसाँ का कहना है कि इस प्रकार की यान्त्रिक व्याख्या से जैव विवर्तन का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। केवल बाह्य परिवेश के प्रभाव के कारण एक नयी विशेषता या अग की सृष्टि नही हो सकती। यदृच्छा या सयोगवश कोई नयी विशेषता नही टपक पडती। जीवन शक्ति की आन्तरिक प्रेरणा के द्वारा ही एक नयी विशेषता या नये अग का सजन हो सकता है। परिवेश के अनुकूल एक विशेषता या अग की अभियोजना आन्तरिक जीवन शक्ति ही बना सकती है।

(ग) विवर्तन के भिन्न मार्ग—सुप्ति, सहज प्रवृत्ति और बुद्धि—सजीव जगत् मे जीवन का विवर्तन तीन प्रक्रमो मे हुआ है—वनस्पति, पशु और मानव। वनस्पति मे चेतना सुप्ति (torpor) की अवस्था मे होती है, वह अभी भौतिक प्रतिरोध पर यथेष्ट अधिकार नही प्राप्त कर पाती। पशु योनि मे चेतना भौतिक परिवेश पर अशत अधिकार प्राप्त कर लेती है जैसा कि पशुओ के सवेदन और गति से सिद्ध है। किन्तु पशुओ मे चेतना सहज प्रवृत्ति द्वारा व्यक्त होती है मनन या विकल्प द्वारा नही। मानव मे चेतना भौतिक सत्ता पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लेती है। मानव के कार्य मनन विकल्प बुद्धि द्वारा होते हैं। अत हम यह कह सकते हैं कि जीवन शक्ति का विवर्तन वानस्पतिक सुप्ति (torpor), पाशविक सहज प्रवृत्ति (instinct) और मानवीय बुद्धि (intelligence)—इन तीन प्रक्रमो मे हुआ है।

यद्यपि पशु मे सहज प्रवृत्ति और मानव मे बुद्धि की प्रधानता होती है तथापि इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि सहज प्रवृत्ति और बुद्धि मे विरोध है और ये एक दूसरे के साथ नही रह सकते। वस्तुत ये परस्पर पूरक हैं। पशु मे थोडी बुद्धि होती है और मानव मे भी सहज प्रवृत्ति कार्य करती है। केवल पशु मे सहज प्रवृत्ति की प्रधानता होती है और मानव मे बुद्धि की।

सहज प्रवृत्ति और बुद्धि मे एक बडा भेद यह है कि सहज प्रवृत्ति प्रकृति द्वारा

मिले हुए सहज उपकरणों का उपयोग करती है, किन्तु बुद्धि कृत्रिम उपकरणों का उपयोग करती है। मानव एक विनिर्माता है।

दूसरा भेद यह है कि सहज प्रवृत्ति में वस्तु का सहजात ज्ञान होता है। बुद्धि की तभी आवश्यकता पड़ती है जबकि कुछ ऐसी नयी परिस्थितियां खड़ी हो जाती हैं जिनसे सहज प्रवृत्ति नहीं निपट पाती। सहज प्रवृत्ति को विषय या उपादान (matter) का ज्ञान होता है, बुद्धि को आकृति (form) का ज्ञान होता है।

समीहा (Will) का स्वातन्त्र्य

नियतवादियों (determinists) का कहना है कि कोई भी क्रिया या तो पूर्ववर्ती भौतिक कारणों से अथवा पूर्ववर्ती मानसिक कारणों से नियत होती है। बर्गसाँ का कहना है कि यह बात तभी तक ठीक जान पड़ती है जब हम किसी भी क्रिया को एक विलगित, पृथक् रूप में समझने की चेष्टा करते हैं। बुद्धि (intellect) जीवन के प्रवाह को पृथक्-पृथक् स्थैतिक (static) अवस्थाओं में विभाजित कर समझने की चेष्टा करती है और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक अवस्था अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से नियत होती है। बुद्धि के विलगकारक, पृथक्कारक स्वभाव के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु व्यक्ति का जीवन पृथक्-पृथक् परिवर्तनशील अवस्थाओं के अनुक्रम (succession) का समुदाय नहीं है। वस्तुतः व्यक्ति का जीवन सतत, अविच्छिन्न प्रवाह है। इस दृष्टि से उसकी समीहा स्वतन्त्र है। उसके जीवन को हम भिन्न-भिन्न खण्डों में जब देखेंगे तब यही जान पड़ेगा कि प्रत्येक खण्ड पूर्ववर्ती अवस्थाओं द्वारा नियत है। किन्तु जो खण्ड के विषय में सच है वह सम्पूर्ण जीवन के विषय में सच नहीं है। जीवन-शक्ति का स्वभाव सर्जनात्मक है। उसकी सर्जनात्मकता पूर्ववर्ती स्थितियों द्वारा नियत नहीं है। उसकी विशेषता है नयी स्थितियों की सृष्टि। सर्जनात्मक क्रिया ही समीहा का स्वातन्त्र्य है। इस स्वातन्त्र्य का तर्क के द्वारा नहीं, अन्तःप्रज्ञा (intuition) के द्वारा अनुभव होता है।

नैतिकता और धर्म

अपने जीवन के अन्तिम काल में बर्गसाँ ने *Two Sources of Morality and Religion* नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा था जिसमें उन्होंने नैतिकता और धर्म के विषय में अपने परिपक्व विचार व्यक्त किये हैं।

उन्होंने नैतिकता और धर्म के दो रूप माने हैं। पहले हम उनके नैतिकता सम्बन्धी विचार देख लें।

संवृत (closed) और विवृत (open) नैतिकता—बर्गसाँ का कहना है कि नैतिकता स्वरूपतः सामाजिक होती है। समाज-रक्षण और कल्याण के लिए

नैतिक आचरण अनिवार्य है। पशुओं मे, कीट-पतगो तक मे सहज प्रवृत्ति द्वारा सब कार्य पूरे समुदाय के हित के लिए होता है। मानव मे नैतिक आचरण समीहा (will) द्वारा सम्पन्न होता है। समीहा बुद्धि और भाव (emotion) दोनो के द्वारा प्रभावित होती है। मानव विचार द्वारा यह समझ लेता है कि स्वार्थ की भी सिद्धि समाज के ही हित से होती है। अत समाज के रक्षण और कल्याण के लिए आचारसंहिता (moral code) बन जाती है जिसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है।

अधिकतर मानव समाज के रूढिगत आचरण को ही अपने नैतिक जीवन का लक्ष्य समझता है। इस रूढिगत नैतिकता को बर्गसाँ ने सवृत नैतिकता (closed morality) कहा है। किन्तु एक समाज का दूसरे समाज के, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के हितों से सघर्ष हो सकता है। ऐसी स्थिति मे सन्त, अर्हत्, नैतिक महा-मानव अपने समाज के रूढिगत व्यवहार से ऊपर उठकर, मानव मात्र का जिससे *कल्याण होता है जो नैतिकता के परम लक्ष्य की दृष्टि से सर्वथा उचित है,* उसे ही कहते है। उनका आचरण मानव मात्र के प्रेम से प्रेरित होता है। उनकी कर्तव्यबुद्धि समग्र के हित को अपना लक्ष्य बनाती है। इस प्रकार के आचरण को बर्गसाँ ने विवृत नैतिकता (open morality) अथवा निरपेक्ष नैतिकता (absolute morality) कहा है। इस प्रकार की नैतिकता तभी सम्भव हो सकती है जब बुद्धि जीवन की एकत्व दृष्टि से प्रभावित हो। यह जीवन-शक्ति के सर्जनात्मक विवर्तन का एक उच्च स्तर है।

स्थैतिक और गतिशील धर्म--बर्गसाँ का मत है कि नैतिकता के समान धर्म की भी दो दिक् हैं। एक स्थैतिक अथवा बाह्य धर्म है जो प्रकृति की देन है। दूसरा गतिशील अथवा आन्तरिक धर्म है जो योगक्रिया के द्वारा अन्त प्रज्ञाजन्य है। सवृत नैतिकता और स्थैतिक धर्म का प्राय परस्पर सम्बन्ध देखा जाता है। इसी प्रकार विवृत नैतिकता और गतिशील धर्म का परस्पर सम्बन्ध देखा जाता है।

बर्गसाँ की धारणा है कि स्थैतिक धर्म प्रकृति की देन है। बुद्धि के विकास मे कुछ ऐसी प्रवृत्तिया सामने आती है जो व्यक्ति के लिए अवसादकारी और समाज के लिए विघटनकारी हो सकती हैं। प्रकृति ने मानव को बुद्धि की अवाञ्छनीय प्रवृत्तियो से बचने के लिए रक्षणात्मक प्रतिक्रिया (defensive reaction) के रूप मे धर्म दिया है। बुद्धि के अधिक बढने से मानव मे स्वार्थपरक प्रवृत्तिया बढने लग जाती हैं जो कि समाज के लिए विघटनकारी हैं। बुद्धि के द्वारा मानव यह जान लेता है कि उसका निधन एक दिन अवश्यम्भावी है। इससे उसे अवसाद होता है। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए प्रकृति ने मानव में धर्म की धारणा उत्पन्न कर दी है। प्रकृति ने चित्त को पौराणिक उपाख्यान और देवकथा निर्माण करने की शक्ति दी है। इसी के द्वारा धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

मानव के अवसाद का एक कारण और भी है। वह अनुभव करता है कि उसके बहुत से प्रयत्न प्रकृति की कुछ शक्तियो द्वारा परास्त और निष्फल हो जाते हैं। धर्म उसे बतलाता है कि कुछ ऐसी दैवी शक्तिया हैं जिनको प्रसन्न करने से वह हानिकारक शक्तियो पर विजय प्राप्त कर सकता है। अत. वह देव-देवी और ईश्वर की पूजा प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार के पौराणिक उपाख्यानो द्वारा प्रेरित धर्म को बर्गसाँ ने स्थैतिक धर्म कहा है। इसे वह स्थैतिक इसलिए कहते हैं क्योकि ऐसा धर्म कुछ रूढिगत विश्वासो पर प्रतिष्ठित होता है, निजी अनुभव पर नही और प्रत्येक विशेष धर्म एक विशेष समाज के ही हित तक परिसीमित होता है। उसे समस्त मानव के कल्याण का कोई ध्यान नही रहता। सग्राम के समय तो प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र अपने-अपने देव-देवताओ की इस बात के लिए प्रार्थना करता है कि उसके विरोधी राष्ट्र की पराजय हो।

इसके विपरीत गतिशील और आन्तरिक धर्म वह है जो रूढिगत विश्वासो पर आश्रित नही होता, जो भक्त और योगी की आन्तरिक अनुभूति और समस्त जीवन की एकता पर प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार का धर्म अतिबौद्धिक (बुद्धि की सीमाओ से परे) होता है। यह अन्त प्रज्ञा के उत्कर्ष का परिणाम होता है। इस प्रकार का धार्मिक व्यक्ति जीवन-शक्ति से अपना तादात्म्य अनुभव करता है और समस्त मानव के कल्याण के लिए कर्म करता है।

बर्गसाँ ने दो प्रकार के साधको का वर्णन किया है—अपूर्ण और पूर्ण। उनके अनुसार ग्रीस (यूनान) और भारत के साधक अपूर्ण रहे हैं। बर्गसाँ अपूर्ण साधक उनको कहते हैं जो ध्यान मे, समाधि में, परमात्मा के सयोग मे रत रहते हैं। ज्ञान और प्रेम की दृष्टि से वे परमात्मा मे लीन रहते हैं, परन्तु उनकी समीहा परमात्मा की समीहा से बाहर रह जाती है। वे लोक कल्याण के लिए कर्म नही करते। वे अकर्मण्य होते हैं। उनको भय रहता है कि कर्म मे फसने से ध्यान मे बाधा होगी, साधना मे विघ्न उपस्थित होगा।

पूर्ण साधक वे है जिनका ध्यान और भक्ति इस स्तर की होती है कि ज्ञान और प्रेम के साथ ही साथ उनकी समीहा भी परमात्मा की समीहा से एकाकार हो जाती है और वे लोक कल्याण और सामाजिक सेवा को उच्च साधना समझते हैं। बर्गसाँ के मत मे केवल ईसाई साधक इस प्रकार के पूर्ण साधक है क्योकि वे परमात्मा की सर्जनात्मक क्रियाशीलता मे पूर्ण रूप से भाग लेते है।

उनका कहना है कि साधको की अनुभूति को अलौकिक और असामान्य कह कर हमे उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। दर्शन को साधको की अनुभूति का भी उपयोग करना चाहिए।

समीक्षा

बर्गसाँ की विशेषता यही है कि उन्होने परमार्थ को सत् (being) नही माना है। उसे वह भव (becoming) मानते हैं। परमार्थ एक अखण्ड प्रवाह है एक अविच्छिन्न सतत प्रवहमान काल है। उसमे कोई उपलक्षण नही है, कोई वैशिष्ट्य नहीं है। वह केवल जीवन शक्ति की बहती हुई धारा है।

यदि उसम कोई वैशिष्ट्य प्रकट होता है तो वह बुद्धि (intellect) के परिच्छेदकारी स्वभाव और व्यावहारिक क्रिया के कारण ही होता है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि परमार्थ मे कोई वैशिष्ट्य है ही नही, तब बुद्धि किसके आधार पर जीवन-शक्ति के प्रवाह म से किसी एक विशिष्ट पदार्थ को चुन लेती है। बर्गसाँ का कहना है कि वह अपनी व्यावहारिक आवश्यकता के अनुसार जीवन के प्रवाह में से किसी विशेष वस्तु का परिच्छेद कर लेती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन शक्ति के प्रवाह म किसी भी पदार्थ का कोई आधार नही है। केवल बुद्धि बिना किसी आधार क उस प्रवाह म से मनमानी यादृच्छिक परिच्छेद कर लती है। यदि बुद्धि मनमानी ऐसा करती है तो कुर्सी और मेज के स्थान म वह घोड़ा और हाथी को अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार उपस्थापित कर सकती है। किसी विशेष वस्तु का उस प्रवाह म कोई आधार ही नही रह जायेगा। किन्तु बुद्धि जीवन के प्रवाह म से इच्छानुसार जो चाहे वह निकाल ले ऐसा वस्तुत होता नही। जीवन के प्रवाह म कुछ मूलभूत विशेषताए है उन्ही के अनुसार बुद्धि पदार्थों का ग्रहण करती है।

बर्गसाँ के भूतवस्तु (matter) की धारणा मे भी ऐसी ही कठिनाई है। बर्गसाँ कहते हैं कि जीवन के प्रवाह मे जब अवरोध उपस्थित होता है तब उस प्रवाह की विपरीत गति भूतवस्तु का रूप धारण कर लेती है। किन्तु अवरोध आप से आप नही हो सकता। उस प्रवाह की गति म किसके द्वारा अवरोध उत्पन्न होता है? गति स्वय अपने म अवरोध उत्पन्न कर नही लेती। भूतवस्तु तो अभी उत्पन्न ही नही हुआ है जो कदाचित् अवरोध उपस्थित करता। यह मानना पड़ता है कि मूलतत्त्व म ही वैशिष्ट्य के बीज विद्यमान हैं जिनके कारण भूतवस्तु इत्यादि वैचित्र्य प्रकट होते हैं। जीवन वैशिष्ट्यहीन प्रवाह नही है।

बर्गसाँ के दर्शन म सबस बडी कठिनाई यह है कि जीवन-शक्ति के प्रवाह के उद्गम, केन्द्र या आश्रय का उल्लेख नही मिलता। प्रवाह हो और उसका कही केन्द्र या उद्गम न हो यह बात युक्तियुक्त नही प्रतीत होती। केन्द्रीयता के बिना प्रवाह का सारा महत्व ही निरर्थक हो जाता है। *Creative Evolution* म उन्होंने केवल एक स्थान पर ईश्वर का निर्देश किया है, किन्तु वहा पर ईश्वर elan vital या जीवन शक्ति स भिन्न नहीं है।

Father de Jonquedec न एक पत्र म बर्गसाँ का ध्यान उनके *Creative*

Evolution में इस त्रुटि की ओर आकृष्ट किया था। बर्गसाँ ने जो उत्तर दिया था उसका उद्धरण Ruhe and Paul ने *Henri Bergson* नामक पुस्तक मे पृष्ठ 42 पर इस प्रकार दिया है : "I speak of God as the source whence issue successively by an effort of his freedom, the current of impulses each of which will make a world."—अर्थात् "मैं ईश्वर को वह उद्गम कहता हूं जहा से क्रमश. उसके स्वातन्त्र्य द्वारा आवेगो की वे धाराएं चलती हैं जिनमें से प्रत्येक एक विश्व का निर्माण करने मे समर्थ है।" इस उत्तर मे उन्होने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि जीवन शक्ति के प्रवाह की केन्द्रीयता है।

बर्गसाँ उद्देशवाद के विरुद्ध थे। वह कहते थे कि उद्देशवाद स्वातन्त्र्य का विरोधी है, वह एक नियतिवाद है। जीवन-शक्ति का निरन्तर प्रवाह, परिवर्तन होता रहता है। किन्तु उनके जीवन के अन्तिम काल मे उनके मत में परिवर्तन हुआ। अपने अन्तिम ग्रन्थ *'The Two Sources of Morality and Religion'* मे उन्होंने लिखा है कि जो जीवन प्रवाह है वह प्रेम का प्रवाह है और वह मानव को उठाकर प्रभु के पास पहुंचा देता है और इस प्रकार ईश्वरीय सृष्टि को परिपूर्ण करता है।" (पृष्ठ 225)। इससे स्पष्ट है कि अन्त मे उन्होने जीवन के उद्देश को स्वीकार किया।

ऊपर के दो उद्धरणों से यह सिद्ध है कि जीवन-शक्ति के प्रवाह का आदि और अन्त उन्होंने ईश्वर को माना है।

बर्गसाँ की यह धारणा कि भारतीय योगी या साधक अपूर्ण होता है भ्रान्तिपूर्ण है। वह कहते हैं कि भारतीय साधना केवल ध्यान या उपासना पर बल देती है। भारतीय साधक केवल ध्यान में मग्न रहता है अथवा भक्ति मे रत रहता है, उसे लोक कल्याण के लिए कोई इच्छा नही होती, अतः भारतीय साधक अपूर्ण है। पता नही उन्होने कभी भगवद्गीता को पढ़ने का कष्ट किया या नहीं। यदि वह इसका अवलोकन करते तो उन्हें पता चलता कि उसमे आदि से अन्त तक लोक-संग्रह का गीत गाया गया है और कर्मयोग का अपूर्व प्रतिपादन हुआ है। कुछ ऐसे साधक तो प्रत्येक धर्म में—ईसाई धर्म मे भी—मिलेंगे जो केवल ध्यान मे मग्न रहना चाहते हैं, प्रभु प्रेम के रसास्वादन मे रत रहते है, किन्तु केवल उनके आधार पर किसी धर्म की समस्त साधना का सामान्य लक्षण बना लेना उचित नही है।

बर्गसाँ ने बार-बार मानव-कल्याण (good of humanity) के लक्ष्य को दुहराया है। प्राय. समस्त पाश्चात्य दार्शनिक केवल मानव को ही सब कल्याण का केन्द्र बनाते हैं। भारतीय दर्शन का लक्ष्य केवल मानव का कल्याण नही है। उसका लक्ष्य है कीट, पतग, चीटी इत्यादि से लेकर समस्त प्राणी का कल्याण। उसका अहिंसा का सिद्धान्त केवल मानव तक परिसीमित नही है। वह क्षुद्र जन्तु से लेकर मानव.

सब सबके प्रति अहिंसा के आदर्श का प्रतिपादन करता है। लोक-संग्रह में सभी प्राणियों का अन्तर्भाव है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BERGSON, HENRI, *Creative Evolution.*
—, *Time and Free Will*
—, *Introduction to Metaphysics*

4 मार्क्स (1818 1883) का त्रिकपरक भौतिकवाद

[कार्ल मार्क्स का साधारण परिचय, मार्क्स का त्रिकपरक भौतिकवाद, त्रिकपरक भौतिकवाद का समाज में विनियोग—इतिहास की भौतिक अवधारणा और आर्थिक नियतत्ववाद, साम्यवाद का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त, श्रमजीवीपरक राज्य, क्रान्त्युत्तर अवस्था, प्लेटो और मार्क्स के साम्यवाद में समताएं और विषमताएं, समीक्षा।]

कार्ल मार्क्स का साधारण परिचय

कार्ल मार्क्स (1818-1883) का ट्रीर (Trier) में जन्म हुआ था। ट्रीर पश्चिम जर्मनी का एक नगर है। यह मोज़ेल (Moselle) नदी के तट पर स्थित है। मार्क्स ने यहीं पर 1835 में माध्यमिक शिक्षा समाप्त की। बाद में उन्होंने बॉन और बर्लिन विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा ग्रहण की। 1841 में उन्होंने पी-एच० डी० (Ph D) की उपाधि प्राप्त की। जर्मनी में हीगल के दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव था। उन दिनों हीगल के अनुयायी दो दलों में विभक्त हो गये थे—दक्षिणपन्थी और वामपन्थी। दक्षिणपन्थी रूढ़िवादी थे और वामपन्थी क्रान्तिकारी विचार के थे। मार्क्स वामपन्थी विचारों से प्रभावित हुए।

1842 में मार्क्स 'राइनिशेत्साइतुंग' (Rheinische Zeitung) पत्र के सम्पादकीय विभाग में नियुक्त हुए और कुछ समय के अनन्तर उसके प्रधान सम्पादक नियुक्त हो गये।

लुडविग फॉयरबाख (Ludwig Feurbach) एक भौतिकवादी दार्शनिक थे जिन्होंने हीगल के त्रिकवाद को भौतिक प्रत्ययों में परिणत करके इतिहास और सामाजिक व्यवस्था का भौतिक प्रत्ययों के द्वारा प्रतिपादन करना प्रारम्भ किया। मार्क्स इनके विचारों से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने भी हीगल के त्रिकवाद को भौतिक ढांचे में ढालना प्रारम्भ किया।

मोजेज हेस (Moses Hess) ने इस मत का प्रतिपादन प्रारम्भ किया कि समाज के विकास मे राजनीतिक तथ्यों की अपेक्षा आर्थिक तथ्यों का अधिक योगदान है और सेण्ट साइमन (Saint Simon) ने इस मत का प्रतिपादन प्रारम्भ किया कि आर्थिक सम्बन्ध ही इतिहास का नियामक है। इन दोनों लेखकों का भी मार्क्स पर बहुत प्रभाव पड़ा।

अतः त्रिकपरक भौतिकवाद की नींव पर मार्क्स ने अपने दार्शनिक भवन का निर्माण किया।

1843 में 'राइनिशेत्साइतुंग' पत्र के बन्द हो जाने के अनन्तर मार्क्स पेरिस चले गये। इसके अनन्तर उन्होंने जर्मन पत्रों में दो लेख लिखे जिनमें उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिक क्रान्ति मे श्रमजीवी व्यक्ति (prole tariat) की भूमिका का उल्लेख किया। फ्रीडरिक एंगेल्स (Friederich Engels) (1820-1885) के विचार मार्क्स से बहुत मिलते थे। अतएव मार्क्स उनकी ओर आकृष्ट हुए। दोनों ने मिलकर समाज के त्रिकपरक भौतिकवाद के प्रतिपादन और प्रचार मे बहुत काम किया।

1847 में मार्क्स ब्रूजल्स (Brussels) गये। वहां वह एक गुप्त प्रचार समिति में सम्मिलित हुए जिसका नाम साम्यवाद संघ (Communist League) था। इस संघ के अनुरोध पर एंगेल्स और मार्क्स ने मिलकर साम्यवादी दल का नीति-घोषणा पत्र (manifesto) 1848 मे तैयार किया।

जर्मनी मे 1848-49 में उन्होंने 'न्यू राइनिशेत्साइतुंग' (Neue Rheinische Zeitung) में श्रमजीवी व्यक्तियों का जोरदार समर्थन किया। जर्मनी से वह निष्कासित हो गये और अब 1849 से अपने जीवन के अन्तकाल तक लन्दन में रहे। यहां रहकर उन्होंने अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन किया और अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ दास कैपिटल (*Das Kapital*) लिखा जो 27 वर्ष में समाप्त हुआ। उसका प्रथम खण्ड 1867 मे प्रकाशित हुआ। द्वितीय खण्ड एंगेल्स द्वारा 1885 मे प्रकाशित किया गया। तृतीय खण्ड 1894 में प्रकाशित हुआ। 1883 मे मार्क्स का निधन हो गया। उनके सिद्धान्तों का रूस में लेनिन ने समर्थन किया। मार्क्स के क्रान्तिकारी विचार रूस में साकार हुए।

मार्क्स का त्रिकपरक भौतिकवाद (Dialectical Materialism of Marx)

मार्क्स ने तीन स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की। जर्मनी से दर्शन की, इंगिलस्तान से अर्थशास्त्र की और फ्रांस से क्रान्तिकारी समाजवाद की।

मार्क्स ने त्रिकवाद (विधान, प्रतिधान, समाधान) का विचार हीगल से लिया, किन्तु हीगल का त्रिक चित् सम्बन्धी प्रत्यय है, मार्क्स का त्रिक भौतिक शक्तियों

का समूह है।

भौतिकवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि चित् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। वह भौतिक शक्तियो का परिणाम है। सभी भौतिकवादी इस बात मे सहमत हैं कि चित् का अपना कोई अभिक्रम (initiative) नही है। मार्क्स भी इसी अर्थ मे भौतिकवादी हैं।

हीगल के विकवाद को फायरबाख ने भौतिकवादी रूप दे दिया। मार्क्स फायरबाख़ के विचारो से बहुत प्रभावित हुए थे। मार्क्स का समाज-दर्शन हीगल के विकवाद (dialectic) और फायरबाख़ (Feuerbach) के भौतिकवाद का सम्मिश्रण है। इसलिए यह समाज-दर्शन विकपरक भौतिकवाद (dialectical materialism) कहलाता है। इसको विकपरक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह सामाजिक घटनाओ को पूर्ववृत्तो (antecedents) का परिणाम और भावी घटनाओ का अग्रगामी (precursor) मानता है। इसे भौतिकवाद इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके अनुसार सभी घटनाए भौतिक शक्तियो के परिणाम हैं। चित् भी भौतिक शक्तियो का ही परिणाम है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण का समर्थन यह प्राकृतिक विज्ञान से मानता है। इसलिए इसे वैज्ञानिक समाजवाद (scientific socialism) भी कहते हैं।

हीगल का विकवाद न्याय (logic), प्रकृति (nature) और आत्मा (spirit) के प्रक्रम द्वारा सारी सत्ता का विवेचन करता है। मार्क्स का कहना है कि न्याय का वर्ग जिसमे सत् (being), असत् (non-being) और भवत् (becoming) इत्यादि का वर्णन है बिलकुल निरर्थक है क्योंकि ये (अर्थात् सत्, असत्, भवत्) भाववाचक प्रत्यय (abstract ideas) केवल भौतिक जगत् के स्थूल पदार्थों के सूक्ष्मीकरण से निष्पन्न हुए हैं। स्थूल पदार्थों से अलग इनकी कोई सत्ता नही है। रह गया—प्रकृति और आत्मा। तो हीगल ने स्वय यह बतलाया है कि अचेतन प्रकृति से निधान, प्रतिधान और समाधान के द्वारा मानव का विवर्तन हुआ है। मानव स्वय अचेतन प्रकृति का शिशु है और उसी से तथाकथित आध्यात्मिक (spiritual) विषय जैसे कला, धर्म और दर्शन विकसित हुए हैं। अत: ये तथाकथित आध्यात्मिक विषय भी अन्ततः अचेतन प्रकृति के ही विकास हैं। इस प्रकार मार्क्स ने हीगल के चिद्वाद को भौतिकवाद मे परिवर्तित कर दिया। मार्क्स का कहना था कि हीगल अपने चिद्वाद के कारण अपने सिर पर खड़ा था। उसके दर्शन का भौतिक विवेचन कर मैंने उसे पैरो पर खड़ा कर दिया है।

मार्क्स के अनुसार धर्म तो केवल सामान्य जनसमूह के लिए अफीम के समान है जिसके द्वारा ईश्वर का भय दिखलाकर राजा, पूजीपति, धनिक वर्ग का साधारण जनसमूह पर आधिपत्य जमाया जाता है। धार्मिक उपदेशो के ही

कारण श्रमिक वर्ग इहलोक की यातनाओ को इस आशा से सहन करता है कि इनकी सम्पूर्ति परलोक में होगी।

नैतिकता के विषय में भी मार्क्सवाद का मत है कि कोई शाश्वत नैतिक नियम नही है। नैतिकता केवल किसी भी काल की आर्थिक स्थिति की प्रतिच्छाया है। नैतिकता शासक, पूजीपति अथवा भूस्वामी के हितो का समर्थन मात्र है।

त्रिकपरक भौतिकवाद का समाज में विनियोग—इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा और आर्थिक नियतत्ववाद

मार्क्स ने अपने दार्शनिक विचारो द्वारा इतिहास का विवेचन और समाज का विश्लेषण किया है। मार्क्स का कहना है कि मानवीय जीवन के निर्वाह के लिए जो कुछ उत्पादित किया जाता है और उत्पादित वस्तुओ के विनिमय ही सारे सामाजिक ढाचे के आधार है। प्रत्येक युग की सामाजिक क्रान्तियो का आधार उस युग के दार्शनिक विचार नही होते केवल आर्थिक स्थिति ही उस युग की क्रान्ति का आधार होती है।

समाज मे जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह उत्पादन और विनिमय के विरोध के कारण होता है, न कि किन्ही दार्शनिक विचारों के कारण। समाज के सास्कृतिक जीवन के जितने भी साधन हैं वे सब भी समाज के आर्थिक ढाचे के द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

आदिम अवस्था के अतिरिक्त विश्व का सारा इतिहास वर्गों के संघर्ष का इतिहास है। वर्गों का संघर्ष आर्थिक स्थिति के कारण होता है। अतः समाज का आर्थिक ढाचा ही समाज के सब परिवर्तनो का मूलभूत कारण होता है।

मार्क्स ने त्रिकवाद का समाज के ऐतिहासिक विकास मे विनियोग किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक आर्थिक स्थिति की पूर्वावस्था मे उसके विनाश के बीज विद्यमान रहते हैं। समाज की प्रत्येक अवस्था मे दोहक (exploiter) और दोहित (exploited) के बीच जो आर्थिक विरोध होता है उसी मे उस सामाजिक अवस्था के विनाश का बीज निहित रहता है।

समाज की आदिम अवस्था को छोडकर जिसमे कि सम्पत्ति का साधारण स्वामित्व था, समाज को तीन विशिष्ट अवस्थाओ मे विभक्त कर सकते हैं: दासस्वामित्वप्रधात्मक, सामन्तप्रधात्मक (feudal), पूजीपतिप्रधात्मक (capitalist)। दासस्वामित्वप्रधात्मक समाज मे स्वामी दास का पूर्णरूप से दोहन करता है। दास अपने जीवन-निर्वाह के लिए स्वामी पर सर्वथा आश्रित रहता है। स्वामी-दास सम्बन्ध निधान (thesis) है। दोहक स्वामी और दोहित दास मे पारस्परिक विरोध उत्पन्न होता है। यह प्रतिधान (antithesis) है। इन दोनो के विरोध के परिणामस्वरूप सामन्तप्रधात्मक समाज (feudal) बनता है

जोकि स्वामी और दास के विरोध का समाधान (synthesis) है। इस प्रथा मे कृषकदास (serfs) पूर्णदासत्व से अशत उन्मुक्त होकर अपने सामन्त के लिए काम करते हैं, किन्तु भूमि और उत्पादन के साधन का स्वामित्व पूर्णत सामन्तो का ही रहता है। कृषकदास सामन्त-सम्बन्ध निधान है। इस प्रथा में भी आगे दोनो मे विरोध प्रारम्भ होता है। यह विरोध प्रतिधान है। इस विरोध से सामन्तप्रथात्मक समाज का अन्त होता है। इन दोनो का समाधान पूँजीपति-प्रथात्मक समाज में होता है। इस प्रथा मे श्रमिक को पहले की अपेक्षा अधिक स्वतत्रता होती है, किन्तु पूजीपति भी अधिक सघटित हो जाते हैं।

मार्क्स ने अपने दर्शन मे यही दिखलाया है कि यह पूजीपतिप्रथात्मक समाज भी अपने भीतर विद्यमान विरोधो के कारण विनाश की ओर जा रहा है। जैसे-जैसे लाभ का लोभ बढता जाता है वैसे-वैसे पूजीपति अधिक श्रमिको को अपने धन्धे मे लगाता जाता है और अपनी अधिक उत्पाद्य वस्तुओ के लिए नयी मण्डिया ढूढता है। किन्तु श्रमिक और पूजीपति का विरोध बढता है। यातायात के साधनो के बढ जाने से ससार भर के श्रमिक अब अधिक अच्छी तरह सघटित हो सकते हैं। जब वे पूर्णरूप से सघटित हो जायेंगे तब उनकी अत्यधिक सख्या पूजीपति प्रथा को विनष्ट कर डालेगी।

पूजीपतिप्रथात्मक समाज निधान है, श्रमिको का विरोध प्रतिधान है। मार्क्स की यह स्थापना है कि इसका समाधान और समन्वय साम्यवाद(communism) द्वारा ही हो सकता है। इसलिए मार्क्स और एगेल्स ने साम्यवाद के नीति-घोषणा पत्र (manifesto of the communist party) म यह घोषित किया, "सभी देशो के श्रमिको, तुम सब सघटित होकर मिल जाओ। इससे तुम्हारे दासत्व की शृखला के अतिरिक्त और कोई क्षति नही होने की है। तुम्हे एक नये समाज, नये विश्व की सृष्टि करनी है।"

हीगल के त्रिकवाद को मार्क्स-एगेल्स ने इस प्रकार लागू किया। पूजीपति प्रथा श्रमिको द्वारा उत्पादित सम्पत्ति का अपहरण है। श्रमिको की निजी सम्पत्ति निधान (thesis) है, पूजीपतियो की निजी सम्पत्ति इसका प्रतिधान (antithesis) है। सामाजिक सम्पत्ति जो किसी विशेष व्यक्ति की नही है, प्रत्युत सारे समाज की है उपर्युक्त दोनो स्थितियो का समाधान (synthesis) है। मार्क्स की धारणा है कि साम्यवाद के सिद्धान्त पर व्यवस्थित समाज वर्गहीन (classless) समाज होगा जिसमे श्रमिक वर्ग और पूजीपति वर्ग का भेद विलीन हो जायेगा और सम्पत्ति किसी व्यक्तिविशेष अथवा वर्गविशेष की नही होगी, किन्तु सारे समाज की होगी। सम्पत्ति की दृष्टि से सबमे साम्य हो जायगा। धनी और निर्धन, पूजीपति और श्रमिक का भेद समाप्त हो जायेगा। यही है मार्क्स का साम्यवाद।

ऊपर के सिद्धान्त पर मार्क्स का आर्थिक नियतत्ववाद (economic determinism) प्रतिष्ठित है। मार्क्स की धारणा है कि समाज के विकास की आर्थिक स्थिति ही प्रेरक शक्ति है। समाज का कोई भी स्तर पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धो से ही नियत होता है। किसी भी अवस्था मे सामाजिक चेतना आर्थिक संघर्ष का ही परिणाम है। समाज के राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक और दार्शनिक विचार उनकी आर्थिक अवस्था और सघर्ष के ही परिणाम है। मार्क्स के अनुसार नियतत्व का अर्थ भाग्यवाद नही है। आर्थिक नियतत्व का ज्ञान प्राप्त कर समाज की किसी विशेष अवस्था पर अधिकार कर उससे ऊपर उठकर मुक्त हो जाना इस सदर्भ मे नियतत्व का अभिप्राय है। पूजीपतिप्रधानात्मक समाज मे जो आर्थिक शक्तिया काम कर रही हैं उन पर विजय प्राप्त कर साम्यवाद के आर्थिक नियतत्व के द्वारा हमे एक नये समाज की रचना करनी चाहिए। हमे इनके लिए क्रान्ति और बल का प्रयोग करना होगा।

मार्क्स के अनुसार दो ही वर्ग हैं . दोहक और दोहित, पूजीजीवीवर्ग (bourgeoisie) और श्रमजीवीवर्ग (proletariat)। हमे पूजीजीवीवर्ग का विध्वस करना होगा। उनसे कोई समझौता नही हो सकता। पूजीपति व्यवस्था को ही हमे समाप्त करना है। हमे धनी और निर्धन का भेद मिटाना है। मार्क्सवाद का आदर्श है एक वर्गहीन (classless) समाज की स्थापना। इस आदर्श की पूर्ति के लिए मार्क्सवाद हिंसा और बलाचरण का पूर्ण समर्थन करता है।

साम्यवाद का राज्य (State) सम्बन्धी सिद्धान्त

साम्यवाद की धारणा है कि जब तक राज्य-व्यवस्था मे परिवर्तन नही होगा तब तक सामाजिक ढाचे मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया जा सकता। वर्तमान राज्य-व्यवस्था क्रान्तिकारी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इसके अधिकारियो पर भरोसा नही किया जा सकता, इसकी कार्यपद्धति सर्वथा प्रभावरहित है। केवल अधिकारियो के परिवर्तन से इसमे परिवर्तन नही आ सकता। इसलिए सवैधानिक साधनो का परित्याग कर देना चाहिए। वर्तमान तन्त्र को बलपूर्वक निरस्त करके श्रमजीवियो के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व (dictatorship) की स्थापना करनी चाहिए।

श्रमजीवीपरक राज्य (The Proletarian State)

क्रान्तिकाल मे केवल श्रमजीवियो का राज्य होगा। मार्क्स का कहना है कि पूजीजीवीवर्ग (bourgeoisie) के प्रतिरोध को दमन करने के लिए केवल श्रमजीवियो का क्रान्तिकारी राज्य होना चाहिए। इस राज्य मे अन्य दलो का प्रतिनिधित्व नही रहेगा।

साम्यवाद के अनुसार स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र मादक द्रव्य के समान हैं। यह सब श्रमजीवियों को अपने पूर्ण अधिकार से वञ्चित रखने का मोहक साधन है।

राजनीतिक लोकतन्त्र और राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक साम्य नहीं है। आर्थिक साम्य ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

साम्यवाद ही मानवता की एक मात्र आशा है। केवल यही भावी संघर्ष और संग्राम का महौषध है और इस प्रकार मानव की सभ्यता का संरक्षक है।

क्रान्त्युत्तर अवस्था (Post Revolutionary Stage)

क्रान्तिकाल में केवल श्रमजीवियों के राज्य की आवश्यकता है। जब पूँजीजीविवर्ग का पूर्ण अन्त हो जायेगा, जब एक वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायेगी, जब सब में आर्थिक समता आ जायेगी, तब राज्य (state) की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। तब एक मुक्त समाज होगा जिसके सार्वजनीन कार्यों को करने के लिए कुछ स्वैच्छिक सहकारी समितियां रहेंगी।

प्लेटो और मार्क्स के साम्यवाद में समताएं और विषमताएं

प्लेटो के आदर्श राज्य से साम्यवाद की प्रायः तुलना की जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि दोनों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक विचार कर लिया जाये। दोनों में कुछ समताएं हैं और कुछ विषमताएं भी। समताएं निम्नलिखित हैं :

1. दोनों सिद्धान्त सत्तावादी (authoritarian) हैं। मार्क्स का साम्यवाद यह कहता है कि शासन की सत्ता पूर्णरूपेण श्रमजीवियों के हाथ में होनी चाहिए। प्लेटो यह कहता है कि सत्ता अभिरक्षकों (guardians) के हाथ में होनी चाहिए। यद्यपि प्लेटो के अभिरक्षक का आदर्श बहुत ऊंचा है तथापि अधिकार की दृष्टि से प्लेटो और मार्क्स दोनों सत्तावादी हैं।

2. प्लेटो के अनुसार अभिरक्षक ही राजनीतिक सत्य को जानते हैं और उसे नागरिक जीवन के नियमन के लिए विधियों (laws) का रूप देते हैं। मार्क्स के अनुसार भी साम्यवादी दार्शनिक ही वास्तविक सत्य को जानता है और समाज का नियमन उसी के सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए।

3. जिस प्रकार प्लेटो ने यह प्रतिपादित किया था कि योद्धाओं के वर्ग का विशेष शिक्षण होना चाहिए जिससे कि वे विपरीत विचार वालों से राज्य की रक्षा कर सकें, इसी प्रकार साम्यवाद यह चाहता है कि उसके सदस्य विपरीत विचार वालों से राज्य की पूर्णरूपेण रक्षा करें।

दोनों में जो विषमताएं हैं वे निम्नलिखित हैं

1 मानव के इष्ट (value) की दृष्टि से प्लेटो और मार्क्स में बहुत ही अन्तर है। प्लेटो के अनुसार सभी मानवों का एक ही इष्ट नहीं होता। कुछ ऐसे मनुष्य

होते हैं जिन्हें ज्ञान सबसे अधिक प्रिय है, वे मानप्रिय होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिनमें बल की विशेषता होती है, वे अधिकारप्रिय होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो धन को सर्वोत्तम इष्ट समझते हैं। वे धनप्रिय होते हैं। प्लेटो के इस वर्गीकरण का मनु के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण से साम्य है।

प्लेटो ने मानव का मनोवैज्ञानिक इष्ट के आधार पर वर्गीकरण किया है। इसलिए उनके अनुसार यदि शासन में अधिकारप्रिय लोगों का आधिक्य होगा तो अधिकारतन्त्रीय राज्य (tyrannical state) होगा। यदि शासन में सम्पत्ति या धनप्रिय लोगों का आधिक्य होगा तो धनिकतन्त्रीय राज्य (plutocracy) होगा और यदि मानप्रिय लोगों का आधिक्य होगा तो अभिजाततन्त्रीय राज्य (aristocracy) होगा।

मार्क्स ने सारे समाज का केवल धन के आधार पर वर्गीकरण किया है। इसीलिए उसने सारे समाज का दो वर्गों में बटवारा किया है: श्रमजीवी और पूंजीजीवी। उसके अनुसार मानव का सर्वोत्तम इष्ट है सम्पत्ति और भौतिक सुख।

प्लेटो के अनुसार मानव के तीन इष्ट हैं—ज्ञानी के लिए ज्ञान (honour), बलवान के लिए अधिकार (power), सम्पत्तिप्रिय के लिए धन (wealth)। मार्क्स के अनुसार मानव का परम इष्ट है सम्पत्ति और सम्पत्ति के द्वारा प्राप्य भौतिक सुख। प्लेटो का समाज के वर्गीकरण का मनोवैज्ञानिक (psychological) आधार है, मार्क्स का आर्थिक (economic) आधार है। मार्क्स ने शारीरिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को ध्येय बनाया है। प्लेटो ने मानसिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को ध्येय बनाया है।

2. साम्यवाद राज्य केवल श्रमजीवियों का राज्य होगा। प्लेटो के अनुसार श्रमजीवी वह वर्ग है जिसके सभी उद्देश्य तृष्णा या वासना (appetite) से निर्धारित होते हैं, विबोध (reason) से नहीं। अतः यह बहुत निम्न श्रेणी का राज्य होगा। अतः इतना पर्याप्त धन कभी न हो सकेगा जो सबमें बराबर बांटा जा सके अतः इस राज्य में बराबर संघर्ष चलता रहेगा।

समीक्षा

मार्क्स के त्रिकपरक भौतिकवाद में कई त्रुटियां हैं। जिनमें से मुख्य निम्न हैं:

1. ऐतिहासिक घटनाएं हीगल के त्रिकवाद से नहीं निर्धारित होतीं। इतिहास मानव की अनेक प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण से बनता है। पारस्परिक ईर्ष्या, भिन्न दलों का संघर्ष, कुछ नेताओं की महत्त्वाकांक्षा, अधिकार की तृष्णा, सुधार की तीव्र इच्छा इत्यादि नाना प्रकार की प्रवृत्तियों से इतिहास की घटनाएं घटित होती हैं। अतः इतिहास को न्याय के एक सीधे से नियम में परिसीमित करना सम्भव

नहीं है।

2 त्रिकवाद की ऐतिहासिक घटनाओं में अनुपपन्नता। त्रिकवाद का सिद्धान्त यह है कि समाधान, निधान, और प्रतिधान दो विपरीत अवस्थाओं का उच्चतर समन्वय होता है। किन्तु इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण हैं जिनमें कि दो विपरीत व्यवस्थाओं के संघर्ष से एक उच्चतर व्यवस्था नहीं घटित हुई है, प्रत्युत उन विपरीत व्यवस्थाओं में से एक का पूर्ण विनाश हो गया है।

3 मार्क्स का त्रिकवाद का प्रयोग कृत्रिम और भ्रान्तिपूर्ण है। मार्क्स का कहना है कि सामन्तप्रथात्मक समाज का अन्त होने पर पूंजीप्रथात्मक समाज का उदय होता है। किन्तु सामन्तप्रथा पूंजीप्रथा की विपरीत अवस्था नहीं है। वह पूंजीप्रथा का ही एक अविकसित रूप है।

त्रिकवाद का यह सिद्धान्त है कि पूर्ववर्ती अवस्थाओं में जो गुण होता है वह उत्तरवर्ती समाधान में समन्वित हो जाता है। किन्तु क्या किसी भी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद में दासप्रथा और सामन्तप्रथा के गुण समन्वित हो गये हैं?

4 मार्क्स का कहना है कि क्रान्ति के अनन्तर केवल श्रमजीवियों का राज्य होगा जिसमें और कोई दल सम्मिलित नहीं किया जायगा। जब पूर्णरूप से वर्ग-हीन समाज स्थापित हो जायेगा तब श्रमजीवियों का एकाधिकार समाप्त हो जायेगा। किन्तु इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कोई भी प्राप्त अधिकार को नहीं छोड़ना चाहता।

5 मार्क्सवाद की मान्यता है कि नैतिकता केवल आर्थिक स्थिति की प्रतिच्छाया है। नैतिकता में कोई शाश्वत तत्त्व नहीं है। यदि यह सत्य है तो नैतिकता केवल किसी व्यक्ति या वर्ग के स्वार्थ और सुविधा की वस्तु रह जायेगी। तो फिर मार्क्स का श्रमजीवियों के लिए जो न्याय, समता और औचित्य का नारा है उसका क्या अर्थ रह जायेगा?

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

MARX, KARL AND ANGELS F, *The Communist Manifesto*.
MARX KARL, *Das Kapital*
—, *A Contribution to the Critique of Political Economy*

5. ह्वाइटहेड (1861-1947) का प्रक्रम का दर्शन

[ह्वाइटहेड का साधारण परिचय; ह्वाइटहेड का मुख्य दृष्टिकोण; ज्ञान-मीमांसा की नयी दृष्टि; ह्वाइटहेड के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त; शाश्वत पदार्थ; प्राग्ग्रहण; देश-काल; कारणता का सिद्धान्त; ईश्वर का स्वरूप—ईश्वर की दो विधाएं, ईश्वर की वैयक्तिक सत्ता; समीक्षा।]

ह्वाइटहेड का साधारण परिचय

आल्फ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड (1861-1947) ट्रिनिटी कालेज, केम्ब्रिज के 1911 से 1914 तक फेलो रहे; यूनिवर्सिटी कालेज, लन्दन में 1914 से गणित के लेक्चर रहे। बाद में वह लन्दन के इम्पीरियल कालेज ऑव सायन्स एण्ड टेक्नालोजी में 1924 तक गणित के प्रोफेसर हो गये। वह गणित और न्यायशास्त्र के विशेषज्ञ थे। अन्त में वह दर्शन शास्त्र की ओर झुके और इसमें बड़ी ख्याति प्राप्त की। 1924 से 1938 तक उन्होंने अमेरिका के हारवर्ड यूनिवर्सिटी में दर्शन के प्रोफेसर के पद पर काम किया। 1938 में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं : बर्ट्रेण्ड रसेल के साथ *Principia Mathematica* —3 खण्ड (1910-1913); *An Inquiry Concerning the Principles of Natural Knowledge* (1919); *The Concept of Nature* (1920); *Science and the Modern World* (1926); *Religion in the Making* (1926); *Symbolism* (1928); *Process and Reality* (1929); *Adventures of Ideas* (1933)।

ह्वाइटहेड का मुख्य दृष्टिकोण

प्राचीन विज्ञान का विश्वास यह था कि जगत् अपरिवर्तनीय परमाणुओं से बना हुआ है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध में तो परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उन परमाणुओं की आन्तरिक रचना में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जैसे विज्ञान का विश्वास था कि जगत् के मूलभूत तत्त्व कुछ अपरिवर्तनीय परमाणु (atoms) हैं, वैसे ही दर्शन का विश्वास था कि जगत् में कुछ मुख्य द्रव्य (substances) हैं जिनके परिवर्तनीय गुण होते हैं। इस विश्वास का प्रभाव न्यायशास्त्र (logic) में कर्ता (subject) और विधेय (predicate) के सम्बन्ध में दृष्टिगोचर होता है।

ह्वाइटहेड के समय नवीन विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया था कि परमाणु अपरिवर्तनीय नहीं हैं। परमाणु विद्युदणु (electrons) और प्राणु (protons) के पुञ्ज हैं। विद्युदणु और प्राणु स्थित्यात्मक (static) नहीं हैं, वे वैद्युत ऊर्जा

(electrical energy) है। ऊर्जा तो क्रियाशील होती है, गत्यात्मक होती है।

इस दृष्टि से हमें अपनी पुरानी धारणाओं को बदलना पड़ेगा। इस दृष्टि से पदार्थ (object) स्थित्यात्मक द्रव्य नहीं है। उन्हें हमें ऊर्जा, गति और क्रिया के रूप में समझना होगा। पदार्थ केवल गति के भेद है। सूक्ष्म दृष्टि से कोई स्थित्यात्मक द्रव्य नहीं है जिसका गति गुण मात्र हो। तथाकथित द्रव्य स्वयं गत्यात्मक है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो परिवर्तन से सर्वथा मुक्त एक सुरक्षित निजी सत्ता रखता हो। सभी पदार्थ क्षोभ, ऊर्जा, गति, क्रिया के सस्थान हैं। जगत् में तथाकथित पदार्थ नहीं, प्रक्रम (process) मात्र है। जो यह धारणा बनी हुई थी कि पदार्थ विशेष देश-काल में स्थित वस्तु है उसका ह्वाइटहेड ने विरोध किया।

पदार्थ की भ्रान्त धारणा के साथ लोगों में देश-काल (space and time) के सम्बन्ध में भी भ्रान्त धारणा थी। लोग समझते थे कि देश और काल सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष हैं। किन्तु विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि देश और काल परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित हैं। ह्वाइटहेड ने देश और काल की इस नवीन अवधारणा पर भी बल दिया। उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि देश और काल पदार्थों के खोखले आश्रय नहीं हैं। वे वस्तुतः प्रक्रमों (processes) के विभिन्न प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों के सूचक हैं।

भूतवस्तु (matter) की नवीन गत्यात्मक और देश-काल की अन्योन्याश्रयी और सापेक्ष अवधारणा से ह्वाइटहेड के दर्शन का श्रीगणेश होता है। भूतवस्तु (matter) गत्यात्मक है; पदार्थ कोई ठोस, स्थूल स्थित्यात्मक वस्तु नहीं हैं; वे प्रक्रम मात्र हैं, केवल वैद्युत ऊर्जा के विविध प्रकार हैं। देश और काल पृथक् वस्तु नहीं हैं। ये सापेक्ष हैं, वे पदार्थों के माध्यम मात्र नहीं हैं। पदार्थ तो प्रक्रम मात्र हैं और देश-काल इन प्रक्रमों के पारस्परिक सम्बन्ध हैं। यही ह्वाइटहेड का नया दृष्टिकोण है।

ज्ञानमीमांसा की नयी दृष्टि

लॉक (Locke) इत्यादि दार्शनिकों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि रंग, गंध, शब्द इत्यादि गौण गुण पदार्थ में नहीं होते हैं। ये पदार्थ और हमारे शरीर के बीच जो पारस्परिक क्रिया होती है उसी के परिणाम हैं। ये प्रकृति के वास्तविक गुण नहीं हैं।

ज्ञान के क्षेत्र में इस द्वैतवाद का ह्वाइटहेड ने घोर विरोध किया। उनके अनुसार प्रकृति का स्वकीय स्वरूप और प्रकृति का दृश्यमान स्वरूप दो नहीं, एक हैं। उनका कहना है कि शरीर, मस्तिष्क इत्यादि भी तो पदार्थ ही है, दृश्यमान ही हैं। यदि हमें प्रत्यक्ष के माध्यम में विश्वास नहीं है, तो हम अपने प्रत्यक्षभूत, दृश्य-

मान शरीर मे विश्वास को भी सुसगत नही कह सकते।

यह बात नही है कि ह्वाइटहेड प्रत्यक्षकर्ता को निश्चेष्ट मानते है। प्रत्येक ऐन्द्रियबोध प्रत्यक्षकर्ता की देश-काल मे अवस्थिति, उसके मस्तिष्क, इन्द्रिय इत्यादि की बनावट द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जो कुछ हम इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करते है वह सब आभास मात्र है, वास्तविक नही है।

द्रष्टा और दृश्य को, प्रमाता और प्रमेय को सर्वथा निरपेक्ष मानना सबसे बडी भूल है। द्रष्टा दृश्यमान जगत् से सर्वथा पृथक् नही है, वह उसी का एक अग है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष जगत् का वह दृष्टिभग है जो जगत् के ही एक अग द्वारा सम्पन्न हुआ है।

ज्ञान निश्चेष्ट नही होता। ज्ञान वस्तुभूतसत् (reality) के एक अग और अन्य अगो के बीच पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उद्भूत होता है। ह्वाइटहेड का कहना है कि ज्ञान क्रिया की ही एक दूसरी दिक् है।

प्रत्यक्ष केवल मन से नही होता। उसमे शरीर का भी भाग है। प्रत्यक्ष बाह्य-पदार्थ और द्रष्टा के शरीर—दोनो की विशेषताओ को एक साथ ही उद्भासित करता है। जब हम किसी बाह्य पदार्थ, जैसे पुष्प या पत्थर, को छूते है तो हमे बाह्य पदार्थ और अपने हाथ दोनो की विशेषता का एक साथ ही भान होता है। प्रत्यक्ष द्रष्टा और उस प्रकृति के बीच एक सक्रिय सम्बन्ध है जिस प्रकृति का द्रष्टा स्वय एक अग है।

समस्त ज्ञानमीमासा चाक्षुपप्रत्यक्ष के आधार पर रची गयी है। किन्तु चाक्षुप-प्रत्यक्ष (visual perception) का दार्शनिक विवेचन बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण है। अत उसके आधार पर प्रतिष्ठित ज्ञानमीमासा (epistemology) भी भ्रान्ति-पूर्ण हो गयी है। चाक्षुपप्रत्यक्ष मे दो भ्रान्तिया स्पष्ट रूप से दिखायी देती है—एक तो यह है कि लोग समझते हैं कि द्रष्टा और दृश्य मे कोई सामान्य तात्त्विक सम्बन्ध नही है। दृश्य और द्रष्टा के बीच मे एक ऐसी खाई है जो दोनो को सर्वथा पृथक् कर देती है। दूसरी भ्रान्ति यह है कि लोगो की यह साधारण धारणा है कि सभी दृश्य पदार्थ स्थैतिक (static) और सर्वथा परस्पर पृथक् हैं। ये दोनो धारणाए दूषित हैं। अत इनके आधार पर खडी की गयी ज्ञानमीमासा भी दूषित हो गयी है।

ह्वाइटहेड के अनुसार सर्वतः स्वीकृत ज्ञानमीमासा मे एक और दोष है। वह चिन्तको की यह धारणा है कि चित्त का सब सार और स्वरूप सचेतनता है। उनका ध्यान इस बात पर नही जाता कि चित्त का सारा व्यापार सचेतन नही होता। चित्त के चारो ओर एक ऐसा प्रदेश है जो अचेतन है, जो चित्त की प्रकृत चेतना मे आता ही नही, किन्तु जो चित्त को प्रभावित करता है। ज्ञानमीमासा इस तथ्य की अवहेलना नही कर सकती। उसे किसी सिद्धान्त के निर्धारण मे अपे-

तन चित्त के तथ्य को भी दृष्टि में रखना चाहिए।

चित्त की सचेतन और अचेतन सभी अवस्थाओं में जो समान रूप से विद्यमान रहता है उसको ह्वाइटहेड ने अनुभूति (experience) अथवा वेदन (feeling) की सज्ञा दी है। अनुभूति अथवा वेदन चेतनता की पूर्वावस्था है। इसी अनुभूति के द्वारा सजीवता (life) और चित्त में सातत्य (continuity) है। सजीवता में अचेतनता है, किन्तु चित्त के समान उसमें भी अनुभूति है। जो दर्शन केवल सचेतनता के आधार पर प्रतिष्ठित है वह अर्धसत्य है। तथ्य को समझने के लिए हम अनुभूति तक जाना होगा जो कि चित्त, सजीव और निर्जीव (inorganic) सभी पदार्थ में विद्यमान है। अनुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सचेतन ही हो। एक अनुच्चरित मूक अनुभूति सब में विद्यमान है। इसको उन्होंने वेदन की भी (feeling) सज्ञा दी है।

ह्वाइटहेड के तत्त्वमीमासीय (Metaphysical) सिद्धान्त

ऊपर हमने देख लिया कि ह्वाइटहेड के अनुसार जगत् गतिशील (dynamic) है और इस गतिशील जगत् के सब पदार्थ परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।

जगत् एक गति है, प्रक्रम (process) है वह कोई स्थितिशील वस्तु या द्रव्य नहीं है। ह्वाइटहेड की मुख्य अवधारणा यह है कि निर्जीव सत्ता (lifeless matter), सजीव सत्ता (living matter) और चित्त सब में एक अविच्छिन्न सातत्य (continuity) है।

अनुभव का मुख्य सार यह है कि सभी पदार्थों में सहितत्व (togetherness) है। जिस जगत का हम अनुभव करते हैं वह सश्लिष्ट है एक है। ह्वाइटहेड के अनुसार एक दूसरी दृष्टि से भी एकता विद्यमान है। हम समझते हैं कि अनुभव वहीं होता है जहा सचेतनता होती है। निर्जीव पदार्थों में सचेतनता नहीं होती, अत उनमे कोई अनुभव भी नहीं होता। ह्वाइटहेड के अनुसार यह भ्रान्त धारणा है। अनुभव की एक ऐसी स्थिति है जो भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान है किन्तु सचेतनता और अभिव्यक्ति के धरातल पर नहीं आयी है। ह्वाइटहेड ने इस अन्तवर्ती सूक्ष्म स्पन्दन को अनुभूति या वेदन (experience or feeling) की सज्ञा दी है।

ह्वाइटहेड ने उन तत्त्वों के आधार पर एक सृष्टि विज्ञान (cosmology) का प्रतिपादन किया है जो कि हमारी अनुभूति के अग हैं, चाहे वह अनुभूति चेतनतायुक्त (conscious) हो, चाहे न हो। उनका विश्वास है कि जिस भौतिक विज्ञान ऊर्जात्मक क्रिया (energetic activity) कहता है वह मानव के स्तर पर भावात्मक तीव्रता (emotional intensity) का रूप धारण कर लेती है।

ह्वाइटहेड इस अर्थ में चिद्वादी (idealist) हैं कि वह निम्नतर श्रेणी को उच्चतर श्रेणी की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। उनके मत में सृष्टि उद्देश्यपरक (teleological) है। निर्जीव सत्ता सजीवता और चेतनता की अव्यक्त अवस्था है। निर्जीव सत्ता सजीवता और चेतनता की ओर अग्रसर हो रही है। सृष्टि में जितनी क्रियाएं हैं वे सब सर्जनशील अथवा रचनात्मक अग्रसरण (creative advance) के उदाहरण हैं। क्रिया कभी निरुद्देश्य नहीं होती। दर्शन का मुख्य कार्य यही है कि जो क्रिया आपात दृष्टि से निरुद्देश्य प्रतीत होती है उसके निगूढ उद्देश्य को ढूंढ़ निकाले। पदार्थों की उद्देश्यपरक क्रियाशीलता को ह्वाइटहेड ने सर्जनशीलता (creativity) कहा है। इसको उन्होंने चरम सिद्धान्त (ultimate principle), नूतनता का सिद्धान्त (principle of novelty) कहा है।

उनका दृढ विश्वास है कि कर्तृत्व (act) कृत्य (fact) से कहीं अधिक मौलिक है। उन्होंने ईश्वर की अवधारणा में भी सर्जनशीलता को ही प्रधानता दी है।

वे अन्तिम तथ्य जिनका हम अनुभव कर सकते हैं प्रक्रम (process) हैं जिन्हें ह्वाइटहेड वास्तविक अवसर (actual occasions) अथवा वास्तविक सत्ताएं (actual entities) कहते हैं। कभी-कभी उन्होंने इन्हें वेदनीय पदार्थ (sensible objects) अथवा अनुभूति के बिन्दु (drops of experience) भी कहा है। उनका कहना है कि जिन पदार्थों का हमें प्रत्यक्ष होता है वे एक समाज (society) अथवा अनन्त वास्तविक सत्ताओं की अन्तःसम्बद्ध संहति (inter-related system) हैं। किसी भी पदार्थ का सूक्ष्मतम अणु जिसका हम अनुभव कर सकते हैं 'वास्तविक सत्ता' कहलाता है। एक रंग, ध्वनि अथवा गन्ध 'वास्तविक अवसर' है।

प्रत्येक पदार्थ कई वास्तविक सत्ताओं से बना हुआ होता है। प्रत्येक वास्तविक सत्ता अपरिवर्तनशील होती है। एक मेज जो काल में एक-सी ही प्रतीत होता है वस्तुतः परिवर्तनशील अवस्थाओं का अनवरत अनुक्रम मात्र है। उसकी एकसी ही प्रतीति के कारण हम उसे वही (पूर्वदृष्ट) मेज कहते हैं, यद्यपि उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। वह मेज वस्तुतः वास्तविक सत्ताओं के सतत प्रक्रम (continuous processes) का ही परिणाम है। एक के बाद दूसरी वास्तविक सत्ता क्रमशः आती रहती है, किन्तु स्वयं किसी वास्तविक सत्ता के भीतर कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तविक सत्ता अविभाज्य होती है। वह भिन्न-भिन्न रूप धारण करके नष्ट हो जाती है, किन्तु उनमें आन्तरिक परिणति नहीं होती। ह्वाइटहेड की यह धारणा लाइबनित्स के चिदणु (monad) से मिलती है। अन्तर यह है कि लाइबनित्स के चिदणु में परिवर्तन होता है, किन्तु ह्वाइटहेड की वास्तविक सत्ता परिवर्तनरहित है। दूसरा अन्तर यह है कि चिदणु स्वावेष्टित

(self-enclosed) वातायनविहीन (windowless) है, किन्तु वास्तविक सत्ता इस प्रकार की नही है।

वास्तविक सत्ता का जीवन अनुभव के अवसर तक का होता है। इसलिए इसे ह्वाइटहेड ने वास्तविक अवसर भी कहा है। परस्पर अन्त.सम्बद्ध वास्तविक सत्ताओ को उन्होने घटना (event) कहा है। वास्तविक सत्ताओ से कही अधिक जटिल सघटन को उन्होने पदार्थ (object) कहा है। पदार्थ कई सहवर्ती तत्त्वो का समाज है। ऐसे पदार्थ का ऐक्य किसी प्रेक्षक के द्वारा एक रूप मे पहचाने जाने पर आश्रित है। उस पदार्थ के सूक्ष्म तत्त्व वे वास्तविक सत्ताए हैं जिनका हम वास्तव मे अनुभव करते है।

यद्यपि वास्तविक सत्ता अनुभव की इकाई है और किसी से मिलजुल कर नही बनी है तथापि विचार द्वारा हम उसका विश्लेपण कर सकते हैं। उसका मुख्य कारण सर्जनशीलता (creativity) है। किन्तु किसी वास्तविक सत्ता के उत्पादन मे पहले की सभी वास्तविक सत्ताओ का योगदान रहता है। एक वास्तविक सत्ता के उत्पादन मे समस्त जगत् का योगदान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वास्तविक सत्ता समस्त जगत् की अभिव्यक्ति है। यह मत सापेक्षता सिद्धान्त का ही सहज परिणाम है। इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक वास्तविक सत्ता पूर्वतन वास्तविक सत्ताओ का योगफल अथवा आवृत्ति मात्र है। पूर्वतन वास्तविक सत्ताओ के प्रभाव के साथ ही साथ नवीनता के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। ह्वाइटहेड के अनुसार सर्जनशीलता नवीनता का प्रनियम है (creativity is the principle of novelty)। उनके अनुसार केवल सजीव पदार्थ अवयवी (organism) नही है, भौतिक पदार्थ भी अवयवी है। समस्त जगत् अवयवी है। इसलिए उनके दर्शन को अवयवी का दर्शन (philosophy of organism) कहते हैं। उनके मत मे कोई भी अवयवी स्थैतिक नही होता। उसमे सदा परिवर्तन, विकास, नवीनता होती रहती है। जगत् को अवयवी कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी वास्तविक सत्ताओ मे सदा क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जगत् के सभी पदार्थ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा सम्बद्ध हैं।

वह क्रियाशीलता जिसके द्वारा जगत् के भिन्न तत्त्व संश्लिष्ट होकर एक वास्तविक सत्ता होते हैं सर्जनात्मक सश्लेप (creative synthesis) है। जिस प्रक्रिया द्वारा एक विशिष्ट वास्तविक सत्ता निष्पन्न होती है वह मूर्तीकरण (concrescence) कहलाती है।

शाश्वत पदार्थ

वास्तविक सत्ता मे दो तत्त्व निहित हैं 'वास्तविक अवसर (actual occasion) और सर्जनशीलता (creativity)। यह सश्लेपण या एक अन्य वैकल्पिक प्रकार

भी सम्भव है, अत हमे एक और तथ्य भी मानना पडता है। ह्वाइटहेड न ऐसे तथ्य को जगत् क शाश्वत पदार्थ (eternal objects) या सम्भाव्य (potentials) कहा है। शाश्वत पदार्थ वह विशिष्ट आकार है जिसमे अनुभव के अवसर पर सर्जनशीलता जगत् के उपादान (material) को ढालती हे। शाश्वत पदार्थ वस्तुपरक (objective) या आत्मपरक (subjective) हो सकता है। प्रत्यक्ष की सामग्री जैसे, रग, ध्वनि, स्वाद इत्यादि वस्तुपरक शाश्वत पदार्थ है। सुख, दुख, राग, द्वेप इत्यादि आत्मपरक शाश्वत पदार्थ हैं। कोई भी वास्तविक सत्ता नही घटित हो सकती जब तक कि उसके निर्माण म शाश्वत पदार्थ न प्रवश करे। वास्तविक सत्ता के निर्माण मे शाश्वत पदार्थ के प्रवेश की प्रक्रिया को ह्वाइटहेड ने 'अन्त प्रवेश' (ingression) कहा है।

जगत् की वास्तविक सत्ताए वे उपादान हैं जिनका अनुभूति के द्वारा एक विशिष्ट आकार मे एकीकरण होता है। इस प्रकार जब एक नई वास्तविक सत्ता का निर्माण होता है तब उस स्थिति को ह्वाइटहेड ने सन्तोप (satisfaction) कहा है। सन्तोप की अनुभूति इष्ट अथवा अर्हा (value) की सम्पन्नता है। शक्य या सम्भाव्य के वास्तवीकरण मे जो आन्तरिक सन्तोप होता है वही इष्ट या अर्हा (value) है।

पूर्ववर्तन सत्ताओ और शाश्वत पदार्थो के सश्लेपण द्वारा निष्पन्न होकर जब एक वास्तविक सत्ता अपनी पूर्णता पर पहुच जाती है तब उसका जीवन समाप्त हो जाता है। किन्तु यत वह एक अनुवर्ती वास्तविक सत्ता का उपादान बनकर उसके निर्माण मे सहायक होती है अत नयी सत्ता में उसका प्रभाव विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से वास्तविक सत्ता मे एक वस्तुगत अमरत्व (objective immortality) निहित रहता है।

वास्तविक सत्ता अनुभव का स्वत· सर्जनकारी केन्द्र बन जाती है। यत· यह ग्राहक (subject) पूर्व विद्यमान वास्तविक सत्ताओ के योग से उभरता है अत. ह्वाइटहेड ने इसे अधिग्राहक (superject) कहा है।

शब्दो का भी प्रयोग करते हैं। सर्जनशील सश्लेषण के लिए उपादान या तो पहले से ही विद्यमान वास्तविक सत्ताए हो सकती हैं अथवा शाश्वत पदार्थ। इसलिए प्राग्ग्रहण दो प्रकार का है—एक भौतिक प्राग्ग्रहण (physical prehension) है जो कि विद्यमान वास्तविक सत्ताओ का प्राग्ग्रहण है, दूसरा प्रत्ययात्मक प्राग्ग्रहण (conceptual prehension) है जो कि शाश्वत पदार्थों का प्राग्ग्रहण है।

एक वास्तविक सत्ता के निर्माण के लिए ग्राहक जिन उपादानो को आवश्यक समझता है उनका वरण कर लेता है, जो अनावश्यक होते हैं उनका परित्याग कर लेता है। अपेक्षित उपादानो का वरण अनुलोम प्राग्ग्रहण (positive prehension) कहलाता है और अनपेक्षित उपादानो का परित्याग विलोम प्राग्ग्रहण (negative prehension) कहलाता है। ह्वाइटहेड के अनुसार विलोम प्राग्ग्रहण भी ग्राहक के अनुभव को कुछ न कुछ प्रभावित करता ही है।

उपादान के प्राग्ग्रहण के समय ग्राहक (subject) के अनुभव के भिन्न-भिन्न प्रकार हो सकते हैं, यथा भय, घृणा, राग, द्वेष इत्यादि। ग्राहक के अनुभव के इन प्रकारो को ह्वाइटहेड ने आत्मपरक रूप (subjective forms) कहा है।

ग्राहक का अनुभव किस समय कौनसा आत्मपरक रूप धारण करेगा यह बात ग्राहक के उस समय की मुख्य प्रवृत्ति के ऊपर आश्रित है। इस प्रवृत्ति को ह्वाइटहेड ने आत्मपरक उद्देश्य (subjective aim) कहा है। उदाहरण के लिए लाल रग का अनुभव आह्लाद, घृणा या भय का निमित्त बन सकता है। किस समय वह अनुभव कौनसा रूप धारण करेगा यह ग्राहक के उस समय की मुख्य प्रवृत्ति या प्रवणता पर आश्रित होगा।

इन सब सन्दर्भो मे अनुभव, वेदन, प्राग्ग्रहण, सन्तोष, आत्मपरक रूप, आत्मपरक उद्देश्य इत्यादि शब्दो से सचेतन या सज्ञात (conscious) बोध नही समझना चाहिए। ह्वाइटहेड के अनुसार अनुभव, अथवा वेदन का मुख्य लक्षण है प्रस्तुत उपादानो का एक भाव मे सश्लेषण और आदि मे यह भाव सचेतन नही होता। वेदन, भाव, प्रत्यक्ष, आत्मपरता इत्यादि कोई भी अनुभव प्रारम्भिक अवस्था मे सचेतन नही होता।

ह्वाइटहेड की यह धारणा है कि सचेतनता वैषम्य (contrast) के ही कारण प्रकट होती है। जब ग्राहक का 'अपेक्षित' और 'प्रस्तुत है' और 'हो सकता है' के बीच वैषम्य या विपरीतता का अनुभव होता है तब वैषम्य के प्रघात या धक्के से सचेतनता उत्पन्न होती है। साधारणत जब वैषम्य का अनुभव नही होता, तब अनुभव सचेतनता-विहीन होता है। उस स्थिति मे परिवेश मे जो कुछ भी उपादान विद्यमान होता है वह ग्राहक को एक निदेशयुक्त आवेग से प्रभावित करता है। अत प्रत्येक उपादान और उससे जन्य अनुभव मे एक निदेश (vector)

का स्वभाव रहता है। वह ग्राहक को एक विशेष निदेश (direction) से प्रभावित करता है और विशेष निदेश की ओर संकेत करता है। इसको ह्वाइटहेड ने vector principle अथवा निदेश का प्रनियम कहा है।

ह्वाइटहेड के दर्शन में अनुभव और वेदन पर्यायवाची शब्द हैं। उनका कहना है कि किसी भौतिक वस्तु का आद्य अनुभव जैसे हरे रंग का अनुभव—एक आन्तरिक वेदन के समान प्रतीत होता है जिसका हरा रंग विशेषण होता है। इस प्रकार के अनुभव को हम एक हरा वेदन कह सकते हैं।

भौतिक वस्तुओं का जैसे, रंग, शब्द इत्यादि का, प्रत्यक्ष जब सचेतन और विकसित हो जाता है तब वह प्रत्यक्ष हमारे आन्तरिक अनुभव या वेदन का विशेषण जैसा नहीं प्रतीत होता। तब वह बाह्य वस्तु के रूप में जान पड़ता है। उसका वस्तुकरण (objectification) हो जाता है। किन्तु फिर भी अनुभव का निदेशकारक लक्षण (vector character) उसके मूल को इंगित कर देता है। अर्थात् वह यह संकेत करता है कि मूलतः यह प्रत्यक्ष एक आन्तरिक अनुभव का ही अंग था। यथार्थ में हमारा आन्तरिक अनुभव ही आगे चलकर बाह्य पदार्थ के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ग्राहक को वर्तमान में 'एकाह' की प्रतीति (solipsism) होती है, क्योंकि अनुभव का निदेशक लक्षण उसके अतीत की ओर और सम्भाव्य अनागत की ओर इंगित करता रहता है। अतः ग्राहक वर्तमान में परिसीमित होने से बच जाता है।

दृश्य जगत्

ह्वाइटहेड की ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष आधारभूत है। किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष (perception) का विवेचन दूसरे प्रकार से किया है। साधारणतः लोग प्रत्यक्ष से विषयों का संज्ञानात्मक ऐन्द्रिय बोध समझते हैं। ह्वाइटहेड ने प्राग्ग्रहण का सिद्धान्त प्रस्थापित किया है। प्राग्ग्रहण प्रत्यक्ष और बोध से अधिक व्यापक है। प्राग्ग्रहण वह बोध है जो कि किसी पदार्थ के सार का ग्रहण कर लेता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह संज्ञानात्मक हो। यह ग्राहक और ग्राह्य का, द्रष्टा और दृश्य का असंज्ञानात्मक सम्बन्ध होता है। जगत् प्राग्ग्रहणों का पुञ्ज है। जगत् का आद्य बोध असंज्ञानात्मक (non-cognitive) होता है। यह लाइब-निट्स के चिदणु के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार प्रत्येक चिदणु अपने सन्दर्श (perspective) से जगत् को प्रतिबिम्बित करता है।

प्रत्येक वास्तविक सत्ता एक संकीर्ण पदार्थ है जिसमें अन्य वास्तविक सत्ताएं और शाश्वत पदार्थों के प्राग्ग्रहण एक में संश्लिष्ट होते हैं। प्रत्येक वास्तविक सत्ता एक कोशाणु (cell) के समान है। अतः दृश्य जगत् एक बहुकोशिक (multi-

cellular) अवयवी (organism) के समान है। जगत् विभिन्न वास्तविक सत्ताओं का मेल है। अतः वह स्वयं एक वास्तविक सत्ता के समान है। जगत् का अत्यल्प पदार्थ एक अवयव है और सम्पूर्ण जगत् एक अवयवी है।

देश-काल—जगत् में जितने पदार्थ हैं वे सब एक विस्तीर्ण रूप में अनुभूत होते हैं। इसलिए प्रत्येक सत्ता और परिवेश से सम्बद्ध वितति (extension) एक अनिवार्य तथ्य है। दृश्य जगत् एक विस्तृत सन्तति (extensive continuum) है। विस्तृत सन्तति का लक्षण यह है कि उसमें बहुत से पदार्थ अनुभव की वास्तविक इकाई में संश्लिष्ट हो सकते हैं।

साधारणत. लोग वितति को दैशिक (spatial) समझते हैं। ह्वाइटहेड के अनुसार काल में भी वितति की अवधारणा निहित है क्योंकि काल अनेक क्षणों की इकाई है। अतः वितति एक सामान्य व्यवस्था है जिसमें देश और काल दोनों अन्तर्भूत हैं। देश वह व्यवस्था है जिसमें अनेक वास्तविक सत्ताओं का एक साथ अनुभव होता है। काल वह व्यवस्था है जिसमें अनुक्रमिक (successive) वास्तविक सत्ताओं का अनुभव होता है। किन्तु अनुभव में देश और काल मिले-जुले होते हैं। वे एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। वितति वह व्यवस्था है जो सामान्य रूप से देश और काल दोनों में व्याप्त रहती है। वैज्ञानिक सापेक्षता का भी यही सिद्धान्त है कि देश और काल अन्ततोगत्वा एक ही तथ्य के प्ररूप हैं।

जगत् एक सतत प्रवाह है, सतत प्रक्रम है जिसमें नाना प्रकार की वास्तविक सत्ताएं प्रकट होती रहती हैं और विलुप्त होती रहती हैं। जब हम प्रवाह या प्रक्रम की ओर ध्यान नहीं देते, केवल जगत् के पदार्थों को एक साथ स्थित रहने की ओर ध्यान देते हैं, तो हम देश (space) का अनुभव करते हैं। यह अनुभव एक खण्ड दृष्टि (abstraction) है। वास्तविक सत्ताओं की प्रवाहशीलता की ओर से ध्यान हटाकर उनके एक साथ वर्तमान रहने पर ध्यान रखना देश (space) का अनुभव है। जब हम केवल वास्तविक सत्ताओं की प्रवाहशीलता या प्रक्रम की ओर ध्यान देते हैं, तब हमें काल (time) का अनुभव होता है। यह भी एक खण्डदृष्टि है। सच बात तो यह है कि जगत् न तो विस्तीर्णता के तल (surface of extension) के समान है, न अनुक्रम की रेखा (line of succession) के समान है। वह एक प्रवाह है, प्रक्रम है जिसमें देश, काल दोनों व्यवस्थाएं निहित हैं। समग्र जगत् एक अवयवी है। देश और काल उस अवयवी और अवयव के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए पृथक्-पृथक् प्रक्रियाएं हैं।

कारणता का सिद्धान्त

दार्शनिकों के लिए कारणता का सिद्धान्त एक समस्या बना रहा है। यदि पदार्थ परस्पर भिन्न माने जाते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि एक पदार्थ जो दूसरे

से सर्वथा भिन्न है दूसरे को किस प्रकार उत्पन्न करता है। ब्रैडले ने इस समस्या को इन शब्दों में व्यक्त किया था : "यदि कारण का कार्य से तादात्म्य है तब तो कारण और कार्य एक ही हैं। ऐसी स्थिति में अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कारण है कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। और यदि कारण कार्य से सर्वथा भिन्न है, तो प्रश्न उठता है कि एक वस्तु अपने से सर्वथा भिन्न वस्तु को कैसे उत्पन्न कर सकती है।"

ह्वाइटहेड के दर्शन में यह समस्या नहीं खड़ी हो सकती, क्योंकि वह दार्शनिकों की इस मूलभूत धारणा को ही नहीं मानते कि पदार्थ परस्पर भिन्न हैं। उनके अनुसार विश्व एक अवयवी है जिसके सभी पदार्थ अवयव हैं। अतः सभी पदार्थ सापेक्ष हैं। सभी वस्तुओं की पारस्परिक अन्तर्निहितता है, सभी परस्पर सम्बद्ध और अनुपक्त हैं। प्रत्येक अवसर पर जगत् की सभी अतीत और वर्तमान सत्ताएं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अपना प्रभाव प्रसारित करती हैं। समस्त पूर्ववर्ती जगत्—केवल उसका एक विशेष अंश नहीं—किसी अवसर या वास्तविक सत्ता का कारण बनता है। इसी से प्रकृति के नियमों मे एक सापेक्ष स्थायित्व भी है और नवीनता के लिए अवसर भी है। इसी से जगत् में एक सर्जनात्मक अग्रसरण (creative advance) है। यह अग्रसरण किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। और वह उद्देश्य उमगने वाली वास्तविक सत्ता की आत्मरचनात्मकता की सन्तुष्टि (enjoyment of self creation) है।

ह्यूम का कहना है कि घटनाओं के पारस्परिक अनुक्रम (succession) के प्रत्यक्ष के अभ्यास द्वारा हम उनमें कारण-कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। काण्ट का कहना है कि कारणता चित्त की एक संश्लेषात्मक प्रक्रिया है और उसे हम विचार द्वारा जान सकते हैं।

ह्वाइटहेड का कहना है कि कारणता को हम एक सहज वेदन (feeling) द्वारा जानते हैं। इसको वह कारणता का सहज वेदन (causal feeling) कहते हैं।

किसी भी वास्तविक घटना की उत्पत्ति मे समस्त अतीत का योगदान रहता है। वास्तविक घटनाएं अपने वस्तुनिष्ठ अमरत्व (objective immortality) के कारण भविष्य की ओर अग्रसर होती रहती हैं। उनमें परस्पर सम्पर्क रहता है।

वास्तविक सत्ताएं सहज वेदन (feeling) के द्वारा परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। अतः उनमें कारणता का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। जीवित प्राणियों में कारणता का सहज वेदन अधिक मात्रा में होता है। इसलिए उनमें अपने परिवेश के साथ सरलता से क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।

कारणता का सहज वेदन आद्य सिद्धान्त (primordial principle) है।

निम्नकोटि के प्राणियो म कारणता का सहज वेदन विद्यमान रहता है। अत वे परस्पर सरलता के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। सहज वेदन एक सर्वव्यापी तथ्य है। विश्व के सभी पदार्थ सहज वेदन के माध्यम से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

प्रत्येक वास्तविक सत्ता म सरचना का उत्कट अभिलाष होता है। सरचना के माध्यम से उसे सन्तोष प्राप्त होता है। सतत सत्ता के मूर्तीकरण (concrescence) होने पर उसमे आत्मपरक उद्देश्य की वृद्धि होती है। आत्मपरक उद्देश्य से अति प्रगतिशील सत्ता (superject) का आविर्भाव होता है।

वास्तविक सत्ता के वस्तुकरण को हम निमित्तकारण (efficient cause) कह सकते हैं और उसकी सन्तोष-प्राप्ति को हम प्रयोजक कारण (final cause) कह सकते हैं।

ईश्वर का स्वरूप

प्रत्येक वास्तविक सत्ता का एक स्वकीय उद्देश्य होता है जिससे वह अपनी विशिष्ट व्यवस्था सस्थापित करती है। किन्तु यह एक आशिक तथ्य है। जब हम समस्त जगत् के रचनात्मक अग्रसरण (creative advance) पर विचार करते हैं तब हमें पता चलता है कि जगत् मे जो वास्तविक सत्ताए हैं वे परस्पर समाभियोजित (adjusted) हैं जिससे जगत् मे एक सामूहिक व्यवस्था है। इस तथ्य के कारण हमे यह मानना पडता है कि न केवल प्रत्यक वास्तविक सत्ता का एक निजी आत्मपरक उद्देश्य है अपितु एक सामान्य आत्मपरक उद्देश्य है। जिसकी परिपूर्णता वास्तविक सत्ताओ के भीतर से चरितार्थ हो रही है और जिसके द्वारा समस्त जगत् सामञ्जस्यपूर्ण और व्यवस्थित है।

उस चरम समष्टि-योनि को जिसके द्वारा व्यष्टियो के आत्मपरक उद्देश्य उद्भूत होते हैं ह्वाइटहेड ने ईश्वर कहा है। इस प्रकार ईश्वर प्रत्यक वास्तविक सत्ता के उद्भव का आन्तरिक निदेशक और नियामक तत्त्व है। इसीलिए ह्वाइटहेड ने उसे ससीमता और मूर्तीकरण का मूलस्रोत कहा है। बिना ऐसे ईश्वर को माने यह समझना असम्भव हो जायेगा कि जगत् की वास्तविक सत्ताओ की सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था कैसे हो सकती है। ईश्वर वह तत्त्व है जिसके द्वारा जगत् मे सामञ्जस्य, व्यवस्था और अनुक्रमिक सन्तति बनी हुई है। वह जगत् का व्यवस्थापक तत्त्व है।

ह्वाइटहेड के अनुसार ईश्वर की अवधारणा का एक और आवश्यक कारण है। वह कह चुके हैं कि जगत् को समझने के लिए कुछ शाश्वत पदार्थों को मानना पडता है। ये शाश्वत पदार्थ परस्पर सुसम्बद्ध सम्भाव्यो की सामञ्जस्यपूर्ण सहति हैं। ह्वाइटहेड इनको भी मानते हैं कि हम शाश्वत पदार्थों को नही सोच सकते जब तक कि हम उसके साथ ही एक आत्मपरक आभ्यन्तर अनुभव को न मानें

जो उन पदार्थों को एक व्यवस्थित रूप मे ग्रथित करता है। इसलिए शाश्वत पदार्थों की समष्टि हमें यह मानने को बाध्य करती है कि एक सत्ता है जो इन शाश्वत पदार्थों का अनुभव करती है और अपने अनुभव मे उन्हें एकीभूत करती है। वह जगत् की छुटपुट वास्तविक सत्ता नहीं हो सकती। वह तो केवल एक आद्य मूलभूत सत्ता ही हो सकती है जिसके द्वारा ये शाश्वत पदार्थ चिन्तित और सुसम्बद्ध होते है। उस सत्ता को ह्वाइटहेड ईश्वर कहते हैं। वह विश्व की ही समस्त वास्तविक सत्ताओ का पूर्ववर्ती है और उनका आधार और आश्रय है। शाश्वत पदार्थों का अस्तित्व ईश्वर के संकल्पनात्मक वेदन मे ही निहित है। इस आद्य अवस्था में ईश्वर के द्वारा शाश्वत पदार्थों का अनुभव सज्ञात नहीं कहा जा सकता। वह एक वेदन के रूप मे ही रहता है। ईश्वर सर्जनशीलता का प्रथम व्यक्तीकरण है। वह आद्य वास्तविक सत्ता है।

ईश्वर की दो विधाएं—ह्वाइटहेड के अनुसार ईश्वर की दो विधाए हैं : आद्य (primordial) और अनुवर्ती (consequent)। जैसे प्रत्येक वास्तविक सत्ता की दो विधाएं होती है : कारण और कार्य, मूर्तीकरण की प्रक्रिया (process of concrescence) और मूर्तीकृत वस्तु वैसे ही ईश्वर की भी दो विधाए है : (1) आद्यरूप और (2) अनुवर्ती रूप।

आद्यरूप मे ईश्वर जगत् का पूर्ववती, मूलभूत कारण है। अनुवर्ती रूप मे ईश्वर जगत् मे आच्छादित है, अनुप्रविष्ट अन्तर्वर्ती (immanent) है। आद्य रूप मे वह कार्यों की समष्टि अर्थात् जगत् को समझने के लिए मूलभूत कारण है। किन्तु वस्तुत: वह कार्यों की समष्टि अर्थात् जगत् से पृथक् नही किया जा सकता। अत: अनुवर्ती रूप में वह समस्त कार्यों की चरम समष्टि है।

प्रत्येक वास्तविक सत्ता वास्तविक (actual) और सम्भाव्य (potential) दोनो है। इसी प्रकार ईश्वर भी वास्तविक और सम्भाव्य दोनो है। ह्वाइटहेड के अनुसार मूलभूत तात्विक (metaphysical) सिद्धान्त परस्पर भावगत विपरीतताओं (ideal opposites) के रूप में हैं जिनका अर्थ एक दूसरे के सम्बन्ध मे ही है। ये भावगत विपरीतताएं किसी भी प्रकार विरोधी (contradictory) नहीं है, केवल विपरीत (contrary) है।

प्रत्येक वास्तविक सत्ता द्विध्रुवी (dipolar) है : एक ध्रुव चेतनात्मक है, दूसरा भौतिक। ईश्वर भी इसी प्रकार चेतनात्मक और जागतिक है। प्रत्येक वास्तविक सत्ता कारण और कार्य दोनों है। ईश्वर भी इसी प्रकार कारण और कार्य दोनो है।

ईश्वर जगत् का स्रष्टा भी है और उसका शाश्वत सहचर भी। जगत् परस्पर सम्बद्ध वास्तविक सत्ताओं का एक समग्र, अखण्ड रूप है। जगत् की यह समग्रता ईश्वर के सर्वसंग्राही (all-inclusive) संवेदन या अनुभव के द्वारा ही सम्भव है।

न तो ईश्वर, न जगत् एक स्थैतिक (static) परिपूर्णता मे आबद्ध है। दोनों मे रचनात्मक अग्रसरण (creative advance) का सिद्धान्त विद्यमान है।

धर्म के प्रतिपादक दर्शनो ने या तो ईश्वर को जगत् का स्रष्टा माना है या जगत् का लक्ष्य। ह्वाइटहेड का कहना है कि उनकी आद्य ईश्वर और अनुवर्ती ईश्वर की अवधारणा मे उक्त दोनो मतो का समन्वय हो जाता है। आद्यरूप मे ईश्वर जगत का स्रष्टा है। उसी के द्वारा मूर्तीकरण होता है। ईश्वर के अनुवर्ती रूप मे जगत का उसम अगीभूतकरण (objectification) होता है।

ईश्वर की वैयक्तिक सत्ता (Personality of God)—ह्वाइटहेड के अनुसार ईश्वर निर्गुण, निरपेक्ष, निरुपाधि (absolute) सत्ता मात्र नही है। उसकी विशिष्ट वैयक्तिक सत्ता है। ईश्वर की अनुवर्ती विधा व्यक्तियों के सोपानिक अनुक्रम (hierarchical gradation) का पूर्णीकरण, एकीकरण (integration) है। ईश्वर की एक विशिष्ट वैयक्तिक सत्ता है जिसम व्यक्तियो की परिपूर्णता सिद्ध होती है। ईश्वर सामञ्जस्य (harmony) और ऐक्य का आधार है। सामञ्जस्य और ऐक्य की सम्पूर्णता एक विशिष्ट वैयक्तिक सत्ता म ही चरितार्थ हो सकती है।

ईश्वर वह परम वैयक्तिक सत्ता है जिसम सभी सत्ताए अन्तर्भूत है। जितना ही किसी म अनुभव की प्रचुरता और महत्ता होती है उसका उतना ही बडा व्यक्तित्व होता है। इस दृष्टि से ईश्वर की परम वैयक्तिक सत्ता है। ईश्वर को अवैयक्तिक कहना उसको एक अचेतन भौतिक वस्तु की श्रेणी म अन्तभूत कर देना है।

ईश्वर जगत मे अन्तवर्ती है और उसका नियामक तत्त्व है।

समीक्षा

ह्वाइटहेड का स्थान आधुनिक चिन्तको मे बहुत ऊचा है। उन्होने मुख्यत. भौतिकी (physics) और गणित को अपने चिन्तन का आधार बनाया है। इसलिए उनके दशन को समझना कठिन है।

ह्वाइटहेड का प्राग्ग्रहण (prehension) अलेक्जेण्डर के सहोपस्थिति (compresence) के सिद्धान्त से कुछ कुछ मिलता है। उनकी वास्तविक सत्ता की धारणा लाइबनित्स के चिदणु (monad) से कुछ-कुछ मिलती है। अन्तर यह है कि लाइबनित्स के चिदणु म परिवर्तन होता है किन्तु ह्वाइटहेड की वास्तविक सत्ता परिवर्तनरहित है। दूसरे लाइबनित्स का चिदणु स्वावेष्टित है, किन्तु ह्वाइटहेड की वास्तविक सत्ताए एक दूसरे को प्रभावित करती रहती है।

ह्वाइटहेड का दर्शन अवयवी का दर्शन (philosophy of organism) है। ह्वाइटहेड प्रकृति को एक अवयवी या जैव सत्ता (organism) की तरह मानते

है। उनके अनुसार विश्व एक अवयवी है जो कि विभिन्न वास्तविकताओं को एक भाग में संगठित और संश्लिष्ट करता है। ह्वाइटहेड के दर्शन में अवयवी के साथ प्रक्रम (process) का भी भाव जुड़ा हुआ है। उनके अनुसार विश्व एक स्थैतिक (static) अवयवी नहीं है। उसमें रचनात्मक प्रसारण और विकास का क्रम चलता रहता है। विश्व को अवयवी कहने का उनका यह भी तात्पर्य है कि विश्व के पदार्थों में बराबर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है, उसकी वास्तविक सत्ताओं में पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है। वे लाइबनिट्ज के चिदणु के समान गवाक्षहीन नहीं है।

हीगल इत्यादि विज्ञानवादी (चिद्वादी) भी विश्व को एक अवयवी के समान मानते हैं, किन्तु उनका अवयवी का भाव स्थैतिक है, क्योंकि वह अपने आभ्यन्तर रूप में पूर्णतयायुक्त और नित्य व्यवस्थित है। ह्वाइटहेड के मत में यह प्रक्रमात्मक, गत्यात्मक (dynamic) है।

विज्ञानवादियों के साथ ह्वाइटहेड इस बात में सहमत है कि विश्व एक सुसंगत और सामञ्जस्यपूर्ण समष्टि (coherent whole) है, किन्तु ह्वाइटहेड के अनुसार विश्व इसीलिए सुसंगत है, क्योंकि उसके सभी पदार्थ अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

विज्ञानवादी यह मानते हैं कि निरपेक्षतत्त्व (absolute) एक पूर्ण वैयक्तिक सत्ता है और विश्व के अन्य पदार्थ केवल उस सत्ता के सहकारी मात्र हैं। किन्तु ह्वाइटहेड की यह धारणा है कि विश्व का तत्त्व एक अकेला व्यक्ति नहीं है। प्रत्युत विश्व व्यक्तियों की संहति है जिसका प्रत्येक व्यक्ति एक उद्देश्यपरक निश्चित सत्ता है। विश्व एक व्यवस्थित संघटन है जिसके सभी व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं।

ह्वाइटहेड की कुछ बातें विज्ञानवाद से मिलती हैं, किन्तु वह पूर्णरूप से हीगल के विज्ञानवाद से सहमत नहीं है।

उनके कुछ सिद्धान्त यथार्थवाद से मिलते हैं, किन्तु वह यथार्थवादी नहीं है। ह्वाइटहेड यथार्थवादियों के इस सिद्धान्त से सहमत है कि पदार्थों की सत्ता किसी चित्त द्वारा ज्ञात होने पर आश्रित नहीं है। किन्तु वह यह मानते हैं कि अनुभव का क्षेत्र ज्ञाता मात्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है।

अतः ह्वाइटहेड को न तो विज्ञानवाद की कोटि में, और न यथार्थवाद की कोटि में रखा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

WHITEHEAD, A.N., *An Enquiry Concerning the Principle of Natural Knowledge.*

——, *The Concept of Nature.*

——, *Religion in the Making*

——, *Process and Reality*

——, *Adventures of Ideas*

अध्याय 3

अस्तित्ववाद
(EXISTENTIALISM)

[अस्तित्ववाद की अवधारणा, अस्तित्ववाद की विशेषताएं।]

अस्तित्ववाद की अवधारणा

अधिकांश दार्शनिकों ने तत्त्व को, सार को मुख्य माना है, व्यक्तित्व को, अस्तित्व को गौण। हीगल, ब्रैडले इत्यादि दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि एक आध्यात्मिक तत्त्व है जो अखिल का सार है जो मानव के व्यक्तित्व के अस्तित्व के पूर्व विद्यमान रहता है। मानव के व्यक्तित्व का अस्तित्व उसी पूर्व विद्यमान आध्यात्मिक तत्त्व की एक विशेष अभिव्यक्ति है। अस्तित्ववादी का कहना है कि अस्तित्व सार से पूर्ववर्ती होता है (existence precedes essence)। यही अवधारणा अस्तित्ववादी दर्शन की आधारशिला है। अस्तित्ववादी की इस अवधारणा का क्या अर्थ है? उसका तात्पर्य मानव के अस्तित्व से है। जब हम मानव के घोर, ठोस अस्तित्व को छोडकर उसके सार की बात करते हैं तब हम सत्य से दूर हो जाते हैं। जो केवल मानव के सार की बात करते हैं उनकी विचारधारा केवल चिन्तनशीलता में परिच्छिन्न हो जाती है। वे केवल चिन्तनशीलता को ही मानव का सर्वस्व समझते हैं। मानव का सर्वस्व केवल चिन्तनशीलता नहीं है। वह सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, जीवन-मरण, चिन्तन, कल्पना, संवेदना इत्यादि का अद्भुत पुञ्ज है। केवल चिन्तनशीलता अथवा तार्किक बुद्धि को ही मानव का सर्वस्व समझ लेना एकांगीपना है। यह संपूर्ण, स्पंदनशील, सक्रिय, जीवन्त मानव का वर्णन नहीं है। मानव संपूर्ण मानव है, केवल चिन्तनशील मन

नहीं है। मानव विक्षुब्ध जीवनधार मे वह रहा है और चाहे कोई माने या न माने उसकी चिन्तनशीलता के साथ ही साथ उसके जीवन की विकट परिस्थिति उसका विधायक है। जब तक हम सपूर्ण मानव को समझने की चेष्टा नहीं करते तब तक हम मानव और उसके अनुभव को नहीं समझ सकते। अस्तित्ववादी के कथन का यही तात्पर्य है कि मानव का अस्तित्व उसके सार (चिन्तनशीलता) से पूर्ववर्ती है। अस्तित्ववाद की सारी झाक मानव के अस्तित्व पर, व्यक्तित्व पर, स्पन्दनशील जीवन पर, सम्पूर्णता पर है।

अस्तित्ववाद की विशेषताए

अस्तित्ववाद की निम्नलिखित मुख्य धारणाए हैं

1 अस्तित्व (existence) सार से, मुख्य धर्म (essence) से पूर्ववर्ती है। मानव का अस्तित्व प्रधान है। उस अस्तित्व म जीवन मरण, सुख-दु ख, भाव, वेदना, चिन्तन इत्यादि सभी अन्तर्भूत है। केवल चिन्तनशीलता अथवा तर्कयुक्त बुद्धि को मानव का सार या मुख्य धर्म समझ लेना और यह मानना कि इसी मुख्य धर्म को अभिव्यक्त करने के लिए मानव का अस्तित्व है, एक बडी भ्रांति है। पहले मानव का अस्तित्व है, तब उसके सार या मुख्य धर्म की बात उठायी जा सकती है।

2 सत्वात्मक समस्याओ (ontological problems) को हल करने मे बुद्धि की अपेक्षा सहजवेदन (feeling) को प्राथमिकता देनी चाहिए। आन्तरिक वेदन ही ऐसी शक्ति है जो सत्य से साक्षात्कार कराने मे समर्थ हो सकती है। बुद्धि इसके लिए असमर्थ है। मुहम्मद इकबाल के शब्दो मे

अक्ल गो आस्ता से दूर नही।
उसकी तक्दीर मे हुजूर नही॥

वेदन से तात्पर्य मानसिक भाव (abstraction) मात्र नही है। वेदन एक स्फूर्तिमयी, ऊर्जस्वी (dynamic) शक्ति भी है। मानव एक चिन्तनशील यत्र नही है, वह एक वेदनशील प्राणी है।

3 मानव व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण स्थान—दार्शनिकों ने परमसत्, ईश्वर, आत्मा, समाज, मानवता इत्यादि पर ही मुख्यत विचार किया है। उनके विचारो म मानव व्यक्तित्व का कोई स्थान नही है। समष्टि मे व्यष्टि, समाज म व्यक्ति, मानवता म मानव खो गया है। सार की खोज म जिसका सार खोजा जा रहा है वह ओझल हो गया है। अस्तित्ववाद ने मानव-व्यक्तित्व पर विशेष ध्यान दिया है। व्यक्ति के सुख दु ख उसके नैराश्य, उसकी विवशता और उसकी स्वतत्रता पर अस्तित्ववाद ने विस्तृत विवेचन किया है। इसके अनुसार व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य नही है कि वह समाज के नियमो का आख मूद कर पालन करे। यदि

समाज उसके विकास में बाधक होता है तो उसको पूर्ण अधिकार है कि वह उसका विरोध करे।

4. अस्तित्ववाद व्यक्तिगत अनुभवों को महत्वपूर्ण समझता है उसकी धारणा है कि व्यक्ति का निजी अनुभवों के आधार पर ही विकास होता है। अस्तित्ववाद की झोंक "है" कि अपेक्षा "हूं" पर है। मानव अस्तित्व का भीतर से एक कर्ता, एक वेदक के रूप में अनुभव करता है, बाहर से दर्शक के रूप में नहीं।

मुख्य अस्तित्ववादियों के सिद्धान्त

1. सोरेन कीर्कगार्ड (1813-1855)

[व्यक्तित्व का रहस्य; कीर्कगार्ड का विकवाद; समीक्षा।]

यह डेनमार्क के धार्मिक चिन्तक थे। इनका प्रारम्भिक प्रभाव डेनमार्क स्कैण्डिनेविया और जर्मनी में अधिक पड़ा। इनकी मुख्य कृतियों का अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है। वे हैं : *Either-or*; *The Concept of Fear*; *The Sickness unto Death*; *Philosophical Fragments*; *Unscientific Postscript*.

हीगल ने अपने दर्शन में निरपेक्ष परम सत् की ही विशेष विवेचना की है। कीर्कगार्ड को ऐसा लगा कि इसमें मानव का व्यक्तित्व खो गया है। उन्होंने हीगल दर्शन का डट कर विरोध किया।

व्यक्तित्व का रहस्य

कीर्कगार्ड की धारणा है कि मानव-व्यक्तित्व परम सत् की एक अकिञ्चन अभिव्यक्ति मात्र नही है। उसका अस्तित्व अनुपम और अद्वितीय है। व्यक्ति प्रत्येक कार्य को अपने स्वतंत्र विचार के अनुसार करता है। अतएव वह अपने कार्य के लिए उत्तरदायी है।

कीर्कगार्ड का कहना है कि दार्शनिकों ने व्यक्तित्व को समझने में उसके बुद्धि पक्ष पर बल दिया है, किन्तु व्यक्तित्व की विशेषता उसकी बुद्धि में ही नहीं है। व्यक्तित्व को तर्क द्वारा न समझा जा सकता है, न समझाया जा सकता है। व्यक्तित्व प्रमाता और प्रमेय का, ग्राहक और ग्राह्य का अद्भुत संश्लेष है। यह संश्लेष तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। यह संश्लेष आन्तरिक वेदन (inner feeling) के द्वारा ही समझा जा सकता है। इस वेदन के क्षेत्र में तर्क का प्रवेश नहीं हो सकता।

यह वेदन आतरिक और स्वनिष्ठ (subjective) होता है। कीर्कगार्ड के अनुसार व्यक्तित्व का रहस्य अतर्भावना और विवेक (conscience) के अनुसार जीवन यापन करने मे निहित है।

भीड मे व्यक्ति खो जाता है। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने को भीड से अलग रखे जिससे वह अपने सुख-दु ख, आशा-नैराश्य, आकाक्षा और बुद्धि के भीतर से सक्रमण करते हुए व्यक्तित्व को समझ सके। व्यक्तित्व मे कुछ ऐसा रहस्यमय तथ्य निहित है जो दूसरे के प्रति व्यक्त नही किया जा सकता। यही उसकी अद्वितीयता है। अद्वितीयता का यह अर्थ नही है कि व्यक्ति अपने 'स्व' मे केन्द्रित हो जाय, स्वार्थी हो जाय। इस प्रकार की आत्म-केन्द्रीयता (self centredness) ही पाप (sin) है। कीर्कगार्ड के लिए व्यक्तित्व का अर्थ है श्रद्धा का उन्नयन और प्रभु से मिलन। केवल श्रद्धा से मोक्ष सभव है। तार्किक बुद्धि ही बधन का कारण है। आत्मनिष्ठता (subjectiveness) वस्तुनिष्ठता (objectiveness) के विरुद्ध नही है। वास्तविक आत्मनिष्ठता ही परम वस्तुनिष्ठता है।

कीर्कगार्ड का त्रिकवाद (Dialectic)

कीर्कगार्ड का त्रिकवाद यह बतलाता है कि मानव के जीवन की तीन अवस्थाए होती है (1) सवेदनात्मक (aesthetic), (2) नैतिक (3) धार्मिक या परमात्म-परक। जीवन के उप काल मे व्यक्ति इन्द्रियसुख, भौतिक सौन्दर्य, कामोन्माद से प्रभावित होता है। यह उसके जीवन की सवेदनात्मक अवस्था है। इस अवस्था मे व्यक्ति क्षणिक प्रलोभनो के सामने झुक जाता है।

नैतिक अवस्था इससे ऊची है। इसमे सवेदनात्मक अवस्था की क्षणिकता समाप्त हो जाती है। व्यक्ति अब कर्तव्य के एक शाश्वत, ऐकान्तिक मानदण्ड का अनुभव करता है। अब वह क्षणिकता के स्थान मे चिरन्तनता के साम्राज्य मे प्रवेश करता है। किन्तु कीर्कगार्ड के अनुसार कर्तव्य भी पूर्णत निरपेक्ष नही हो सकता। ईश्वरीय आदेश के सामने मानवीय कर्त्तव्य को भी झुकना पडता है, जैसे ईश्वरीय आदेश के सामने इब्राहीम (Abrahim) को अपने पुत्र आइज़क (Isaac) का हनन करना पडा।

अन्ततोगत्वा धार्मिक अथवा परमात्मपरक अवस्था का उदय होता है। इसमे व्यक्ति ईश्वर के सामने अपनी अपूर्णता का तीव्र अनुभव करता है। उसे अपने जीवन को पूर्णरूप से प्रभु को समर्पण करना पडता है।

कीर्कगार्ड ने धार्मिक अवस्था की ईसाई धर्म के अनुसार व्याख्या की है। इस दृष्टि मे प्रत्येक व्यक्ति म एक मूल पाप (original sin) की भावना रहती है। इस कारण उसका भय बना रहता है। अत धर्म के द्वारा वह मूल पाप से छुटकारा पाना चाहता है।

कीर्केगार्ड का कहना है कि तीनो अवस्थाओ मे अविरत क्रम नही है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे चेतना एक छलाग (leap) से जाती है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करने मे अविच्छिन्नता के क्रम का भग हो जाता है।

समीक्षा

पाश्चात्य दर्शन मे 18वी शती मे तार्किक बुद्धि पर बहुत वल दिया जाने लगा। यह प्रवृत्ति हीगल (1770-1831) मे अपनी चरम बिंदु पर पहुंच गई। हीगल का दृढ विश्वास था कि तार्किक बुद्धि पूर्ण सत्य को प्राप्त करने मे सक्षम है और वह एक व्यापक सत्य के भीतर प्रत्येक वस्तु का स्थान निश्चित कर सकती है।

सोरेन कीर्केगार्ड ने हीगल के इस दावे का घोर प्रतिवाद किया। उनकी धारणा थी कि हीगल का उत्कट तार्किक बुद्धिवाद कभी भी पूर्ण सत्य की प्राप्ति नही करा सकता। कीर्केगार्ड का कहना था कि मानव मे सत्य का विकास केवल तार्किक बुद्धि की त्रिक प्रक्रिया से नही होता। यह विकास उसके अस्तित्व के अर्थात् उसके आन्तरिक जीवन के अनुभव की उत्तरोत्तर वृद्धि और गम्भीरता से ही होता है। हीगल के भावबोधक (abstract) त्रिकवाद के स्थान मे कीर्केगार्ड ने ठोस यथार्थ (concrete) त्रिकवाद का प्रतिपादन किया। हीगल का समाधान (synthesis) परम सत् का पदे पदे स्वकीय आविष्करण है। कीर्केगार्ड का समाधान आतरिक प्रज्ञात्मक (intuitive) वास्तवीकरण (realization) है जो कि व्यक्ति के हृदय और आत्मा मे ही फलीभूत हो सकता है।

कीर्केगार्ड को यह लगा कि हीगल की मूल भ्राति यह थी कि उन्होने यह समझ रखा था कि मानव का अस्तित्व एक बौद्धिक प्रत्यय के भीतर है। किसी व्यक्ति की जीवन-सरणि से ही पता चल सकता है कि उसका नैतिक आदर्श कहा तक चरितार्थ हुआ है, उसके बौद्धिक प्रत्यय मे नही।

कीर्केगार्ड के अनुसार त्रिक (dialectic) की स्थितिया प्रत्यय के आत्मोन्मीलन-कारी प्रक्रमो मे नही हैं, वे जीव की उन दारुण स्थितियो मे निहित है जिनमे वह एक महत्वपूर्ण निर्णय लेता है। इन्ही निर्णयो के द्वारा व्यक्ति सवेदनात्मक जीवन का अतिक्रमण कर नैतिक जीवन मे प्रवेश करता है और अन्तत उससे भी ऊपर उठकर धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन को अपनाता है। यह व्यक्ति के जीवन के सरल प्रवाह मे प्रतिफलित नही होता। व्यक्ति का उच्चस्तरीय जीवन उसकी एक असाधारण छलाग (leap) से ही घटित होता है।

कीर्केगार्ड का योगदान दो दिशाओ मे है (1) आन्तरिक मनोविज्ञान (depth psychology) के क्षेत्र मे कुछ महत्वपूर्ण विश्लेषण और (2) ईसाई धर्म के क्षेत्र मे एक नवीन विवेचन।

कीर्केगार्ड के चिन्तन मे कुछ दोष भी हैं। उदाहरणार्थ, नैतिकता केवल व्यक्ति-

गत नही होती। इसमे सदेह नही कि नैतिकता का मूल व्यक्ति मे है, किंतु नैतिक गुण सामाजिक होते है। बिना समाज का विचार किये हुए अकेले व्यक्ति के आधार पर नैतिकता का वर्णन अपूर्ण हो जाता है।

उनकी सौन्दर्य-बोध की मीमासा भी एकपक्षीय है। यह आवश्यक नही है कि सौन्दर्य-बोध के साथ कामोन्माद सम्पृक्त हो। वास्तविक सौन्दर्य-बोध वही है जो बिना काम के हो। इस प्रकार का सौन्दर्य-बोध ऐन्द्रिय सवेदना से ऊपर की वस्तु है।

मैरिता (Jacques Maritain) ने *Existence and The Existent* मे एक दोष की ओर चिन्तको का ध्यान आकृष्ट किया है जो सभी अस्तित्ववादियो के लिए लागू है। उनका कहना है कि यदि अस्तित्व की स्वभाव या सार से पूर्ववर्तिता का यह अर्थ लिया जाता है कि अस्तित्व बिना स्वभाव के रह सकता है, तो वह भ्रात धारणा होगी। इस कथन का यह अर्थ होगा कि मनुष्य बिना मनुष्यत्व के होता है। यह बात और है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व की ओर अधिक ध्यान दे और सार की ओर कम। किन्तु अस्तित्व और स्वभाव या सार का साहचर्य रहता है। दूसरे, बुद्धि या विवेक को सर्वथा निरर्थक समझना भी एक भ्रान्ति है। मानव के जीवन मे भाव के साथ ही साथ बुद्धि का भी एक आवश्यक स्थान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H J, *Six Existentialist Thinkers.*
KIERKEGAARD, SOREN, *Either/or.*
—, *Philosophical Fragments.*

फ्रीडरिक् नीत्शे (Friedrich Nietzsche)
1844-1900

[शक्ति की वाछा, यूरोप की ईसाई सभ्यता का विरोध; शोपेनहावर के दुखवाद का विरोध, डारविन के समाभियोजन सिद्धान्त की आलोचना, अतिमानव, नैतिकता का मापदण्ड; सभी मूल्यो का पुन: मूल्य-निर्धारण, शुभाशुभ से परे; नीत्शे की राजनीति; नीत्शे के दर्शन में अस्तित्ववाद के तत्त्व, समीक्षा।]

कीर्केगार्ड के समान नीत्शे भी अस्तित्ववाद के पूर्वगामी समझे जाते है। नीत्शे जर्मनी मे रॉकेन मे पैदा हुए थे। यद्यपि इनके माता-पिता ईसाई धर्म मे बहुत विश्वास रखने थे तथापि यह स्वभाव से विद्रोही और बहुत भावुक थे। उन्होने बॉन और लाइपजिग विश्वविद्यालय मे शिक्षा पायी थी। उस समय उनकी भाषाविज्ञान

में बहुत रुचि थी। इसी सिलसिले में उन्होंने ग्रीक भाषा पढ़ी। ग्रीक संस्कृति से वह बहुत प्रभावित हुए। उनका यह विश्वास हो गया कि ग्रीक सभ्यता और संस्कृति ईसाई धर्म से प्रभावित यूरोपीय सभ्यता से कहीं अधिक उत्कृष्ट है।

शोपेनहावर के *The World as Will and Idea* से भी वह बहुत प्रभावित हुए। डार्विन का भी उनके ऊपर प्रभाव था।

वह स्विट्ज़रलैंड के बेसल विश्वविद्यालय मे भाषा-विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त हुए, किन्तु उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ता गया और उन्हें अपने पद का त्याग करना पड़ा। 1888 में उनका स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया। 1890 में उनको पागलखाने में भरती होना पड़ा। वहीं दस वर्ष बाद उनका निधन हो गया। उनके मुख्य ग्रन्थ हैं: *Thus Spake Zarathustra; Beyond Good and Evil; Genealogy of Morals.*

शक्ति की वांछा (The Will for Power)

जर्मन चिद्वादियों से नीत्शे इस बात में सहमत थे कि दृश्य प्रपञ्च (phenomena) का अधिष्ठान कोई भूतवस्तु नहीं है, किन्तु शोपेनहावर से प्रभावित होकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि विश्व का मूल तत्त्व विबोध अथवा तार्किक बुद्धि या प्रत्यय नही हो सकता। विश्व का मूल तत्त्व समीहा या वांछा है। शोपेनहावर ने मूल तत्त्व जीने की वांछा (will to live) बतलाया था। नीत्शे ने इस विचार में परिवर्तन कर कहा कि वस्तुत. जीने की वांछा का तात्पर्य है शक्ति की वांछा। उनके अनुसार शक्ति की वांछा अगणित परिमाणो मे परिणत हो जाती है और इन्ही शक्ति के परिमाणों (quantities) से विश्व की उत्पत्ति होती है।

ये शक्ति के परिमाण भिन्न-भिन्न रूपों और आकारो में मिश्रित होते हैं। इनमें से प्रबल आकार निर्बल पर अपना आधिपत्य जमाते है। जब ये परिमाण जैव अवस्था (organic state) पर पहुंच जाते है तब ये जीवित रहने के लिए नाना प्रकार के साधनो का उपयोग करते हैं। अपने जीवन को बनाये रखने के लिए उनमें परस्पर संघर्ष होता है और केवल क्षमिष्ठ का ही अवशेष (survival of the fittest) रह जाता है। नीत्शे के इस विचार में डारविन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। धीरे-धीरे जीव में स्वसंवित्ति का, सचेतन समीहा और बुद्धि का विकास होता है जिसका सर्वोच्च उदाहरण मानव है। किन्तु जिस प्रकार विश्व का कोई मूलभूत भौतिक द्रव्य नही है, ऐसे ही मानव का कोई मूलभूत पदार्थ आत्मा नहीं है। मानव विभिन्न शक्तियों का पुञ्ज या ग्रन्थि मात्र है। विश्व शक्तिशाली व्यक्ति के ही लिए है। शक्तिशाली अहम् (ego) ही मानव व्यक्तित्व का परम विकास है।

यूरोप की ईसाई सभ्यता का विरोध

नीत्शे का विश्वास था कि ईसाई धर्म की विनम्रता और दीनता ने सारी यूरोपीय सभ्यता को हेय बना दिया है। उसने मानव के साहस, उत्साह, पराक्रम इत्यादि गुणों का विनाश कर दिया और उसको निर्बल अधोगामी बना दिया। उनके अनुसार नैतिकता का आदर्श होना चाहिए शक्ति-सञ्चय, विजय की आकांक्षा, बलशाली होने का अभिलाष। सुकरात द्वारा प्रतिपादित तार्किक बुद्धि का उत्कर्ष और ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित विनम्रता ने मानव को क्षुद्र और निर्बल बना दिया और इन्हीं के द्वारा यूरोपीय सभ्यता का ह्रास हो गया। वह ईसा को एक महान व्यक्ति समझते थे। उनके अनुसार ईसाई धर्म की अधोगति ईसा के कारण नहीं, सन्त पाल (Paul) के कारण हुई। ईसाई धर्म के मूल पाप (original sin) अवधारणा के वह बहुत विरुद्ध थे।

शोपेनहावर के दुःखवाद का विरोध

यद्यपि नीत्शे शोपेनहावर के जीने की प्रबल आकांक्षा से सहमत थे, तथापि वह उनके दुःखवाद के विरुद्ध थे। शोपेनहावर का कहना था कि संसार दुःख से भरा हुआ है। जरा-मरण, बीमारी, संघर्ष इत्यादि से जीवन कलुषित है। जब तक जीवन है, तब तक दुःख रहेगा ही। अतः दुःख से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है जीवित रहने की प्रबल आकांक्षा को समाप्त करना। जीवित रहने का अभिलाष ही सबसे बड़ा अज्ञान और दूषण है।

नीत्शे का कहना था कि हमें जीवन के दुःख, संघर्ष, कठिनाइयों का डटकर मुकाबिला करना चाहिए और उनके दमन करने के लिए शक्ति अर्जित करनी चाहिए। मानव विजय-यात्रा पर निकला है। कठिनाइयों पर उसे विजय प्राप्त करनी चाहिए। पलायनवाद गर्हणीय सिद्धांत है। जीवित रहने की आकांक्षा मानव का दूषण नहीं, उसका परम भूषण है।

डारविन के समाभियोजन सिद्धांत की आलोचना

डारविन के अनुसार जीवन के लिए संघर्ष का तात्पर्य था जीव का परिवेश (environment) के प्रति समाभियोजन (adaptation)। नीत्शे ने इसकी तीव्र आलोचना की है। उनका कहना है कि इस संघर्ष का तात्पर्य होना चाहिए परिवेश का जीव के प्रति समाभियोजन, न कि जीव का परिवेश के प्रति समाभियोजन। विशेषकर मानव को परिवेश के प्रति नहीं झुकना चाहिए। उसे परिवेश को ही अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बना लेना चाहिए। जो परिवेश से भिड़ने के लिए सबल हैं वे ही वास्तव में जीवित रहने में समर्थ होते हैं। जिनमें जीवित रहने के लिए प्रबल वाञ्छा होती है वे ही परिवेश को अपने अनुकूल ढाल सकते हैं और जो ऐसा

कर सकते हैं वे ही जीवित बच सकते हैं। वे ही सबसे अधिक सक्षम होते हैं। जिनमें जीवित रहने की प्रबल वांछा होती है।

अतिमानव (Super-man)

नीत्शे के अनुसार मानव का विवर्तन (evolution) होता जा रहा है। शक्ति की प्रबल वांछा मानव में अद्भुत परिवर्तन समुपस्थित करेगी। भविष्य में एक नये मानव का अस्तित्व होगा। उसमें अधिक शक्ति होगी। उसका जीवन अधिक संवृद्ध और परिपूर्ण होगा। वह अपने परिवेश पर पूर्ण आधिपत्य जमा लेगा। उसके जीवन में एक विचित्र विशालता आ जायेगी। जगत् और मानव का सारा विवर्तन उसी अतिमानव के अवतरण के लिए एक बृहत योजना है। अतिमानव शारीरिक, मानसिक, नैतिक सभी दुर्बलताओं का अतिक्रमण कर जायेगा। उसका बल चरित्र-बल होगा। उसकी महत्ता अन्तरात्मा की महत्ता होगी।

नैतिकता का मापदण्ड—नीत्शे के अनुसार जिस क्रिया के द्वारा व्यक्ति की शक्ति बढ़ती है, जो उसे शक्तिशाली बनाती है, वह नैतिक या शुभ है। जिस क्रिया के द्वारा व्यक्ति की शक्ति घट जाती है वह अनैतिक या अशुभ है। शुभ-अशुभ सापेक्ष प्रत्यय हैं। परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही शुभ-अशुभ का निर्णय किया जा सकता है। जो व्यक्ति परिस्थितियों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है वह नैतिक है। जो परिस्थितियों से हार मानकर अपनी दुर्बलता का परिचय देता है, वह अनैतिक है।

सभी मूल्यों का पुनः मूल्य-निर्धारण (Transvaluation of all values)—अतिमानव के अवतरण पर एक नयी सभ्यता का उदय होगा, पुराने मूल्य ध्वस्त हो जायेंगे। मूल्यों का एक नया निर्धारण स्थापित होगा जो समस्त जगत को झकझोर देगा। जिन भ्रांतियों और आत्म-प्रवञ्चना पर निर्बल लोग आश्रित हैं वे सब नष्ट हो जायेंगी। ईसाई धर्म द्वारा स्थापित विनम्रता के देव का विनाश होगा और उसके स्थान पर शक्ति की वांछा के देव की स्थापना होगी।

शुभाशुभ से परे (Beyond good and evil)—अतिमानव शुभाशुभ से परे होगा उसका सभी कार्य अपने आप में इतना परिपूर्ण होगा कि उसे शुभाशुभ के मापदण्ड से आंका न जा सकेगा। अतिमानव का कोई भी व्यवहार ऐसा न होगा जिसके औचित्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता हो।

नीत्शे की राजनीति

नीत्शे प्रजातंत्र और समाजवाद के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि प्रजातंत्र शक्तिहीन ईसाई धर्म की देन है। प्रजातंत्र और समाजवाद में सब बराबर का अधिकार चाहते हैं। यह कैसे संभव है। शक्तिशाली और शक्तिहीन के अधिकार

बराबर कैसे हो सकते हैं। शक्तिशाली को चाहिए कि वह शक्तिहीन को अपने काबू मे रखे। नीत्शे के इन विचारो के कारण नात्सी-फासिस्ट (अधिनायक) ने उनको अपना दिव्य सन्देशवाहक समझा। हिट्लर वाइमर (Weimar) मे उस मकान का दर्शन करने गया था जहा नीत्शे का निधन हुआ था। वहा नीत्शे की बहिन ने उसका भव्य स्वागत किया था।

नीत्शे ने शक्ति की वाछा, बल के सञ्चय पर अधिक बल दिया था। इसीलिए हिट्लर इत्यादि ने उनको अधिनायकवाद का समर्थक समझा। हिट्लर तो अपने को नीत्शे का अतिमानव समझने लग गया था। किन्तु हम यह नही भूल जाना चाहिए कि नीत्शे का शक्ति की वाछा और अतिमानव का सिद्धान्त अतिभौतिक (metaphysical) और नैतिक है, भौतिक और राजनीतिक नही।

नीत्शे के दर्शन मे अस्तित्ववाद के तत्त्व

व्यक्ति के अस्तित्व की प्रधानता, तार्किक बुद्धि की हीनता, शक्ति-सञ्चय और परिवेश पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा, *अतिमानव का प्रत्यय, रूढ नैतिकता* का विरोध, पलायनवाद का विरोध, अकेलापन इत्यादि नीत्शे के दर्शन मे ऐसी अवधारणाए हैं जिनमे अस्तित्ववाद के बीज विद्यमान हैं। अत कीर्कगार्ड के साथ नीत्शे भी अस्तित्ववाद के पूर्वगामी माने जाते हैं।

समीक्षा

नीत्शे का विभक्त व्यक्तित्व था। इसलिए उनके दर्शन मे कभी-कभी असगत विचार मिलते हैं और इसीलिए उनका दर्शन समझना भी कठिन है। कुछ विद्वानो ने उनकी भूरि भूरि प्रशसा की है और कुछ ने तीव्र आलोचना की है।

वह एक उच्चतर मानवता की खोज मे थे। उसी दृष्टि से उन्होने अतिमानव की कल्पना की है। शक्ति से उनका तात्पर्य पाशविक शक्ति नही था, प्रत्युत अदम्य साहस, परिवेश की विजय, नैतिकता, आध्यात्मिक शक्ति था। वह दार्शनिक की अपेक्षा कवि और कल्पनाप्रिय व्यक्ति थे।

यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से शक्ति के उत्कर्ष का सिद्धात एक विशेष अर्थ मे हो सकता है तथापि आपात दृष्टि से शक्ति की प्रशसा से हिंसा और युयुत्सा की अभिवृत्ति झलकती है जो कि मानव सभ्यता की घातक सिद्ध हो सकती है।

उनके विचारो मे ऐसे पर्याप्त तत्त्व विद्यमान हैं जिनके कारण वह अधिनायकवाद के समर्थक समझे जा सकते हैं। तानाशाही से नागरिक की आवश्यक स्वतत्रता भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के राज्य से मानव का कल्याण नही हो सकता।

नीत्शे को उन्माद हो गया था। सभवत इसी के कारण उनके दर्शन मे असमञ्जसता आ गयी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H. J., *Six Existentialist Thinkers.*
NIETZSCHE, F. *Beyond Good and Evil.*

3. कार्ल यास्पर्स (Karl Jaspers)
1883-1974

[अस्तित्ववाद की विशेषता; दर्शनशास्त्र की विशेषता; अस्तित्व और अवस्थिति; अस्तित्व के प्रकार—आनुभविक अस्तित्व, सम्भाव्य अस्तित्व, अनुभवातीतता; ईश्वर और अस्तित्व का रहस्य; अस्तित्व और विबोध; समीक्षा।]

प्रारम्भ में कार्ल यास्पर्स एक डाक्टर थे। वह मानसिक विकारों के विशेषज्ञ थे। मानसिक विकारों का अध्ययन करते-करते वह दर्शन की ओर झुके और कुछ काल के अनन्तर वह यूरोप के एक विख्यात दार्शनिक हो गये। वह कीर्कगार्ड और नीत्शे के चिन्तन से बहुत प्रभावित हुए थे।

उनकी सभी पुस्तकें जर्मन भाषा में हैं। उनमें से कुछ ही पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। उनकी मुख्य पुस्तकें निम्नलिखित हैं: *Die geistige Situation der Zeit* (1931); *Philosophie* (3 vols. 1932); *Von der Wahrheit* (1947); *Der Philosophische Glaube* (1948); *Einfuhrung in die Philosophie* (1950)। एक पुस्तक उन्होंने नीत्शे और एक देकार्ट पर भी लिखी थी।

अस्तित्ववाद की विशेषता

मानव अपनी सब समस्याओं का स्वयं केन्द्र है। सारे जीवन की समस्याएं व्यक्तित्व की समस्याएं हैं। व्यक्तित्व केवल अस्तित्ववाद के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। व्यक्ति का अस्तित्व है। इसीलिए उसमें हर्ष-विषाद, हास्य-रुदन, आकांक्षाएं और नैराश्य, जीवन-मरण इत्यादि का प्रश्न उठता रहता है।

विज्ञान और औद्योगिकी ने मानव का यंत्रीकरण कर दिया है। ये दोनों उसे एक प्रमेय के रूप में समझते हैं, प्रमाता के रूप में उसे नहीं देखते। उसको प्रमाता के रूप में न देखना उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है। यदि मानव और उसकी समस्याओं को समझना है, तो उसके प्रमातृरूप अस्तित्व को समझना पड़ेगा। अतः अस्तित्ववाद के द्वारा ही हम मानव को समझ सकते हैं।

मानव एक यंत्र नही है। उसके भीतर न जाने कितनी आकाक्षाओ का ज्वार-भाटा घटित होता रहता है। मानव व्यक्तित्व का ऐसा प्ररूप है जिसे हम न केवल वस्तुनिष्ठ कह सकते हैं, न केवल आत्मनिष्ठ। वह प्ररूप है उसका रचनात्मक अस्तित्व। उसके इस रूप की व्याख्या केवल अस्तित्ववादी दर्शन द्वारा हो सकती है।

दर्शनशास्त्र की विशेषता

विज्ञान द्वारा मानव के अस्तित्व का स्वरूप नही जाना जा सकता। दर्शनशास्त्र विज्ञान की शाखा मात्र नही है। वह एक स्वतंत्र शास्त्र है। दर्शन का उद्देश्य है मानव-चेतना के आधार को जानने का प्रयत्न। विज्ञान तो केवल प्रपञ्च को, दृश्य जगत् को जानने का प्रयत्न करता है। मानव दृश्य नही, द्रष्टा है, प्रमाता है। अत. मानव के अस्तित्व को हम विज्ञान द्वारा नही समझ सकते।

किन्तु दार्शनिक विचार सबसे पृथक् होकर नही हो सकता। दर्शनशास्त्र अन्य व्यक्तियो के विचारो के आदान-प्रदान से ही पनपता है। दार्शनिक सामाजिक और सास्कृतिक परिसर मे विचार करता है। इसीलिए दार्शनिक चिन्तन मे भेद और परिवर्तनशीलता अनिवार्य हो जाती है।

मानव का अस्तित्व उसकी चेतना के माध्यम से ही व्यक्त होता है। चेतना का अध्ययन दर्शन द्वारा सर्वोत्तम रीति से होता है। अतः मानव की चेतना के विश्लेषण से हम मानव के अस्तित्व को भली भाति समझ सकते है।

अस्तित्व और अवस्थिति (Existenz and Dasein)

यास्पर्स ने दो महत्त्वपूर्ण शब्दो का प्रयोग किया है : Existenz और Dasein—जिनको हम हिन्दी मे कह सकते हैं—अस्तित्व और अवस्थिति। Dasein (दाजाइन) का अर्थ है किसी विशेष देश और काल से सीमित होकर रहना। यह अवस्थिति है—एक विशेष स्थिति अथवा दशा मे रहना। इसके विपरीत शुद्ध अस्तित्व वह है जो देश और काल की स्थिति का अतिक्रमण कर जाता है। वह प्रमेय (object) के रूप मे नही प्रदर्शित किया जा सकता। वह स्फुरता मात्र है।

दाजाइन या अवस्थिति का अर्थ यह है कि हम जगत् से घिरे हुए है। जगत् मानव को छोडकर अपने मे कोई अर्थ नही रखता। जो भी जगत् है वह मानव का जगत् है। यह सर्वथा स्वनिष्ठ (subjective) दर्शन नही है। यास्पर्स के अनुसार अस्तित्व न तो पूर्णतः स्वनिष्ठ है और न पूर्णतः वस्तुनिष्ठ। अनुभव यह बतलाता है कि हम प्रमाता और प्रमेय को, 'स्व' और 'वस्तु' को सर्वथा पृथक् नही कर सकते। जीवन तो दोनों का संश्लेष (synthesis) है।

जो इतिहास मानव को छोड़कर केवल घटनाओं का वर्णन करता है वह वास्तविक इतिहास नहीं है।

परन्तु मानव अपने 'स्व' में परिसीमित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से विचार-विनिमय करता है। पारस्परिक सवाद (communication) मानव-अस्तित्व का एक अनिवार्य लक्षण है।

शुद्ध प्रमाता और शुद्ध प्रमेय दोनों एकपक्षीय हैं। इनकी वास्तविकता तभी होती है जब दोनों अस्तित्वात्मक संवेदना (existential feeling) के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं। यह सवेदना न तो स्वनिष्ठ है, न वस्तुनिष्ठ। पर वह तत्त्व है जो 'स्व' और 'वस्तु' दोनों से अतीत है।

अस्तित्व के प्रकार

यास्पर्स कई प्रकार के अस्तित्व मानते है। उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है:

1. **आनुभविक अस्तित्व**—जिसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व के विषय में अपने अनुभव द्वारा सचेतन होता है वह आनुभविक अस्तित्व है। इसमें व्यक्ति को आत्म-चेतना होती है। उसे अपने देह, और मन के विषय मे चेतना होती है। वह यह जानता है कि सामाजिक परिस्थितियों के क्रिया-प्रतिक्रियास्वरूप ही उसके मन में विचार उठते हैं।

2. **सम्भाव्य अस्तित्व** (Possible existence)—व्यक्ति को अपने सम्भाव्य अस्तित्व के विषय में भी ज्ञान होता है। उसे अपने सम्भाव्य स्वतन्त्र ज्ञान और कार्य की चेतना रहती है। वह अपने सम्भाव्य अस्तित्व के द्वारा अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त कर लेता है।

सम्भाव्य अस्तित्व काल के माध्यम से व्यक्त होता है। अस्तित्व काल से जुड़ा हुआ है।

3. **अनुभवातीतता** (Transcendence)—यह ऊपर कहा जा चुका है कि अस्तित्वात्मक संवेदना (existential feeling) प्रमाता (subject) और प्रमेय (object) दोनों से अतीत है। यद्यपि यह अस्तित्वात्मक सवेदना अनुभवातीत है तथापि केवल उसी में यह शक्ति है कि वह प्रमाता और प्रमेय का एक ऐतिहासिक अवस्थिति में समन्वय और एकीकरण कर सके।

अस्तित्व अपने स्वरूप से ही अनुभवातीत अवस्था में नहीं पहुंच पाता, किन्तु मानव मे अनुभवातीत अवस्था तक पहुंचने की स्वतंत्रता निहित है। मानव का चिन गत्यात्मक है। इसी गत्यात्मकता के द्वारा वह अनुभवातीत अवस्था को पहुंच सकता है।

जीवन में नाना प्रकार के पारस्परिक प्रतिषेध (antinomies) हैं। जीवन में

स्वतन्त्रता और पराधीनता, पारस्परिक संवाद और एकाकीपन और सुख-दु ख इत्यादि का पारस्परिक वैषम्य स्पष्ट है। इन पारस्परिक विरोधों के तनातनी के कारण मानव में एक विचित्र मानसिक ताप (anguish) रहता है। किन्तु यही मानसिक ताप उस अस्तित्व की ओर हमे अग्रसर करता है जो कि अन्ततोगत्वा एक परम रहस्य है और जिसका अनुभव एक आश्चर्य या विस्मय के रूप मे ही किया जा सकता है। काल के भीतर अकाल निहित है, विवशता के भीतर स्वतन्त्रता छिपी हुई है। काल मे अकाल का अन्त प्रवेश, क्षर मे अक्षर की विद्यमानता अस्तित्व का सबसे महान रहस्य है। विज्ञान इस रहस्य के विषय मे कुछ नही बतला सकता। और यही रहस्य तो अस्तित्व की पराकाष्ठा है।

ईश्वर और अस्तित्व का रहस्य

ईश्वर विश्व का परिवेष्टन किये हुए है, किन्तु उस परिवेष्टक को हम प्रमेय के रूप मे कभी नही जान सकते। एक गूढ दृष्टि द्वारा ही हम उसकी वास्तविकता का अनुभव कर सकते है। प्रभु का वास्तविक अनुरागी उसका अपने अन्तरात्मा के तादात्म्य में साक्षात्कार करता है।

प्रभु का भक्त अपने अवच्छिन्न व्यक्तित्व का अतिक्रमण करके प्रभु मे समावेश करता है और इसी समावेश मे वह अपने अस्तित्व की पूर्णता का अनुभव करता है। मानव के भीतर वह स्वतन्त्रता निहित है जिससे वह अपनी सीमाओ का अतिक्रमण कर परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। यही स्वतन्त्रता ईश्वर का प्रतीक है। स्वतन्त्रता और ईश्वर अविभाज्य है।

विश्व अनुभवातीत सत्ता का प्रतीक है। वह ईश्वर की एक गुह्यलिपि है। इसी गुह्यलिपि के द्वारा हम उस अनुभवातीत की अतीतता को एक सहज प्रकाश्य पारदर्शक के रूप मे परिणत कर सकते हैं।

वास्तविक तत्त्वज्ञान (metaphysics) एक काव्य, एक प्रेमानुभूति के समान विश्व को अस्तित्व के चरम रहस्य परमात्मा की गुह्यलिपि (cipher) के समान समझता है और शुष्क तर्क की उलझन को तिलाञ्जलि देकर स्वय एक गूढ लेख प्रस्तुत करता है।

अस्तित्व और विबोध

यास्पर्स ने अस्तित्व को समझने के लिए विबोध पर बल दिया है। इसके लिए उन्होंने reason शब्द का प्रयोग किया है। जर्मन भाषा मे और विशेषकर यास्पर्स के दर्शन मे reason का अर्थ तार्किक बुद्धि नही है। तार्किक बुद्धि के लिए उन्होंने understanding शब्द का प्रयोग किया है। उनकी धारणा है कि तार्किक बुद्धि सत्य का द्योतक नहीं है, क्योंकि तार्किक बुद्धि विच्छेद करती है, विभेद प्रस्तुत

करती है। विबोध (reason) संहृत करता है, एकीकरण प्रस्तुत करता है। तार्किक बुद्धि विश्लेषणात्मक है, विबोध संश्लेषणात्मक है। तार्किक बुद्धि व्यर्थ नहीं है, किन्तु उसकी सीमाएं हैं। अस्तित्व के रहस्य को समझने के लिए विबोध ही सहायक है।

समीक्षा

कार्ल यास्पर्स में दार्शनिक दलबन्दी का हठ नहीं था। उन्होंने अस्तित्ववाद को एक व्यापक, सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थापित किया है। उनका कहना था कि यूरोप और ईसाई धर्म सत्य के ठेकेदार नहीं हैं। "India and Caina must be accepted as equal partners at first, perhaps as superior before long. The values we have dismissed as aberrations from our standards now claim the same right as our own." (E. Allen के *Existentialism from Within* में पृष्ठ 116 पर उद्धृत।) "सत्य की खोज में हमें भारत और चीन को समान रूप से सहभागी सम्भवतः गुरुतर मानना होगा। जिन अर्हाओं को हमने मतिभ्रम समझकर अपसारित कर दिया था वे अब उन देशों के चिन्तन के प्रभाव से उसी प्रकार मान्य हो रही हैं जैसेकि हमारी निजी अर्हाएं।"

यास्पर्स का चिन्तन अस्तित्ववाद को गत्यात्मक (dynamic) बनाने में सहायक हुआ है। उनका अनुभवातीत और ईश्वर का दर्शन एक विशेष परिदान है। उन्होंने मानव-व्यक्तित्व को स्वतन्त्र और रचनात्मक बतलाया है किन्तु वह उसकी स्वतंत्रता और रचनात्मकता की यथेष्ट और विस्तृत व्याख्या नहीं कर पाये।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H. J., *Six Existentialist Thinkers.*
JASPERS, K., *Philosophie.*

4. मार्टिन हाइडेगर (Martin Heidegger)
1889-1978

[एक अस्तित्वधारी पदार्थ और अस्तित्व का भेद; अवस्थिति और अस्तित्व; ऐतिहासिकता या कालिकता और प्रक्षेपण; मानसिक परिताप या त्रास; मृत्यु और स्वतन्त्रता; समीक्षा।]

इनका जन्म एक कैथलिक परिवार मे हुआ था। 1915 मे वह फ्राइवर्ग मे दर्शनशास्त्र के प्रवक्ता नियुक्त हुए। वहा वह हुजर्ल (Husserl) के प्रभाव में आये। 1923 मे वह मारवर्ग मे दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। 1929 मे वह फ्राइवर्ग मे हुजर्ल के स्थान मे दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। 1933 मे वह रेक्टर नियुक्त हुए, किन्तु एक ही साल वाद अपने पद का त्याग कर दिया और स्वतन्त्र रूप से दर्शन पर लिखना प्रारम्भ किया। उन्होने जर्मन भाषा मे कई ग्रन्थ लिखे जिनमे निम्नलिखित मुख्य है *Sein und Zeit* (1927), *Kant und das Problem der Metaphysic* (1929) *Was ist Metaphysik?* (1929) *Einfuhrung in die Metaphysik* (1953)

एक अस्तित्वधारी पदार्थ (Seiende) और अस्तित्व (Sein) का भेद

हाइडेगर के दर्शन मे एक अस्तित्वधारी पदार्थ और अस्तित्व मे मूलभूत भेद है। उनके अनुसार सभी वस्तुए विचार, घटनाए इत्यादि जिनको हम ग्राह्य रूप मे जानते है अस्तित्वधारी पदार्थ (seiende) है। विज्ञान इनका अध्ययन करता है, इनके नियम को जानने का प्रयत्न करता है, इनमे एक सामञ्जस्य प्रत्युपस्थापित करने की चेष्टा करता है।

परन्तु दर्शन इन सब पदार्थो के मूल को जानने की चेष्टा करता है। दर्शन को प्रत्येक पदार्थ के अस्तित्व की जानकारी से सन्तोष नही होता। वह यह जानना चाहता है, अस्तित्व स्वय अपने मे क्या है। किंतु अस्तित्व को जानना सभव नही है, क्योकि अस्तित्व कभी भी एक ग्राह्य के रूप मे, एक पदार्थ के रूप मे प्रकट नही होता। जो कुछ भी प्रकट होता है वह है अस्तित्वधारी पदार्थ, न कि स्वय अस्तित्व। अस्तित्व पदार्थों से अतिक्रान्त है। पदार्थों के माध्यम से अस्तित्व का वास्तविक रूप नही जाना जा सकता। न तो अस्तित्व कोई द्रव्य है, न कोई गुण। न तो उसका कोई दैशिक रूप है, न कालिक। उसको किसी प्रत्यय द्वारा नही जाना जा सकता। एक शब्द मे कहे तो वह nothing अर्थात् अवस्तु है। शून्य है।

अस्तित्व के इस रूप के प्रतिपादन के कारण हाइडेगर अपने दर्शन को कीर्कगार्ड और यास्पर्स के दर्शन से विशिष्ट बतलाने के लिए अधिअस्तित्ववाद (super-existentialism) कहते है। जा वाल (Jean Wahl) को उन्होने एक पत्र म लिखा था, "मेरा सर्वथा अस्तित्ववाद का दर्शन ही है। मेरे लिए जो प्रश्न है वह मानव का अस्तित्व नही है, प्रत्युत अस्तित्व मात्र है। यही अस्तित्व मात्र मेरे दर्शन का विषय है।"

अवस्थिति और अस्तित्व

यदि अस्तित्वधारी पदार्थ और अस्तित्व एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तो इन

दोनों में कोई सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। हाइडेगर का कहना है कि यह सम्बन्ध dasein द्वारा होता है। 'दाजाइन' जर्मन भाषा का शब्द है। यह da और sein इन दो शब्दों के मिलाने से बना है। 'दा' (da) का अर्थ है 'वहां' और 'जाइन' का अर्थ है 'होना'। 'दाजाइन' का शाब्दिक अर्थ है 'वहां होना'। इसका अनुवाद हमने 'अवस्थिति' शब्द से किया है। कुछ लोगों ने इसका अनुवाद human existence 'मानवीय अस्तित्व' शब्द से किया है। 'दाजाइन' अस्तित्वधारी पदार्थों (seiende) का वह रूप है जो कि विशेष रूप से मानवीय है। वह मानव की एक अवस्थिति है। 'दाजाइन' स्थैतिक नहीं होता। वह गत्यात्मक होता है। मानवीय अवस्थिति बन्द नहीं उन्मुक्त होती है। मानव का एक अतीत होता है, किंतु वह अपने अतीत में खो नहीं जाता। वह भविष्य की ओर उन्मुख रहता है। मानवीय अवस्थिति अन्य पदार्थों जैसे, कुर्सी, मकान इत्यादि से एक अर्थ में भिन्न है। मानव का अपना एक लक्ष्य होता है। इसीलिए जगत् के विभिन्न पदार्थों की तभी कोई सार्थकता होती है जब उनका संबंध मानव से होता है।

हाइडेगर का कहना है कि 'दाजाइन' एक्जिस्ट (exist) करता है। हाइडेगर ने 'एक्जिस्ट' का उसकी शब्दव्युत्पत्ति (etymology) के अनुसार प्रयोग किया है— ex(s)ist(ere)—to stand out—का शाब्दिक अर्थ होता है 'अपने को अतिक्रमण कर जाना।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक मानवीय अवस्थिति अपने को अतिक्रमण कर जाती है अर्थात् वह देश और काल की सीमाओं को लांघ जाती है। इस प्रकार देश और काल की सीमाओं का लंघन कर मानवीय अवस्थिति अस्तित्व (sein) से संपर्क स्थापित कर लेती है।

ऐतिहासिकता या कालिकता (Historicity) और प्रक्षेपण (Projection)

मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता। वह जगत् में रहता है। जगत् में रहने का अर्थ है किसी एक काल में, एक ऐतिहासिक परिस्थिति में रहना। किन्तु 'दाजाइन' या मानवीय अवस्थिति में यह क्षमता होती है कि वह चाहे जिस ऐतिहासिक परिस्थिति में हो वह पदार्थों के बीच में अपना प्रक्षेपण कर सकती है, वह जगत् के पदार्थों को स्वात्मसात् कर सकती है, उनको अपना बना सकती है। पदार्थों के बीच अपना प्रक्षेपण करने की क्षमता 'दाजाइन' या मानवीय अवस्थिति की ऊर्जस्विता या सक्रियता है।

जगत् में रहने से हम प्राय वही करते और सोचते हैं जो और लोग करते और सोचते हैं। हम अवैयक्तिक (impersonal) हो जाते हैं, हम अपने व्यक्तित्व को खो बैठते हैं। यह हमारा 'अवास्तविक स्व' (inauthentic self) है। हम इस अवास्तविकता (inauthenticity) से तभी जग सकते हैं जब हम अपनी चरम वस्तुस्थिति को समझ लें, विशेषकर जब हम यह समझ लें कि एक दिन हमारी

मृत्यु अवश्यम्भावी है। हमारी मृत्यु एक ऐसी स्थिति है जो केवल हमसे सबंध रखती है। हमारी जगह पर कोई दूसरा नही मर सकता। इस मृत्यु की निश्चितता मे ही हमारे जीवन की वास्तविकता (authenticity) है।

इसी प्रकार अन्तर्भावना (conscience) में हमको अपने वास्तविक 'स्व' से सदेश मिलता है। मानव अतीत का अनुस्मरण करता है और भविष्य का प्राक्कलन। किंतु मानव के अस्तित्व की मूलतम वास्तविकता भविष्य से सम्बद्ध है, विशेषकर अपने अवश्यम्भावी मृत्यु से सम्बद्ध है। अपनी मृत्यु की निश्चितता से उसके भीतर एक दृढ़ संकल्प का जागरण होता है जिससे वह अपनी भावी सम्भाव्यताओं की, अपनी नियति की परिकल्पना करता है। इसी में उसके वास्तविक 'स्व' का परिचय मिलता है।

Angst अथवा मानसिक परिताप या त्रास

हाइडेगर का कहना है कि इस रहस्यमय, विलक्षण 'स्व' का परिचय हमें angst में मिलता है। जर्मन में angst का अर्थ anxiety और dread दोनो है। कोई इसका अर्थ अंग्रेजी मे anxiety अर्थात मानसिक परिताप या चिंता करते है। कोई इसका dread या त्रास करते हैं।

हाइडेगर के अनुसार जो भाव हमारा अस्तित्व से सबंध स्थापित करता है वह हमारे मानसिक परिताप में व्यक्त होता है। हमें अपनी नियति के विषय में उद्वेगकारी चिंता बनी रहती है। यह चिंता हमारे भीतर एक मानसिक तनाव पैदा करती है। इसी चिंता के कारण मानव अपनी परिस्थिति का अपने अनुकूल निर्माण करने की चेष्टा करता है। किसी एक परिस्थिति के सचालन करने की अनेक प्रकार की सम्भाव्यताएं है, विविध विकल्प है। मानव अपनी नियति की चिंता द्वारा प्रेरित होकर एक विकल्प को चुनता है। इसी चयन में मानव स्वतत्रता और अस्तित्व का अनुभव करता है।

हाइडेगर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मानव जब अपने भविष्य की चिंता के कारण चयन की स्वतत्रता का अनुभव करता है तो वह चयन किसी उद्देश्य या लक्ष्य की दृष्टि से नही होता। मानसिक परिताप का कोई उद्देश्य नही होता। हाइडेगर ने मानसिक परिताप या चिंता और भय मे भेद बतलाया है। भय तो किसी पदार्थ, विषय और घटना से होता है जैसे, बाघ, साप, बाढ या भूकम्प से किंतु angst या मानसिक परिताप का कोई विषय नही होता। यह मनुष्य का स्वभाव ही है। विना इसके मानव का अस्तित्व ही निरर्थक है। यह वह ऊर्जस्वी आवेग है जिसके द्वारा मानव अपनी नियति को परिपूर्ण करता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारा वास्तविक 'स्व' हमारे मानसिक परिताप मे व्यक्त होता है। उस मानसिक परिताप में हम किससे त्रस्त रहते हैं, किसके विषय

मे चिंतित रहते हैं ? हाइडेगर का उत्तर है 'nothing'—वह अवस्तु है, शून्य है। हमारे स्वाभाविक 'स्व' का ध्रुव लक्षण क्या है ? हाइडेगर का उत्तर है nothing—वह अवस्तु है, शून्य है। हाइडेगर का तात्पर्य यह है कि वह अनिर्देश्य है, उसको हम मानवीय भाषा मे व्यक्त नही कर सकते।

हमारा वास्तविक 'स्व' क्रिया की सम्भाव्यता (potentiality) है। उसको रीतिगत भाषा में हम 'कर्ता' नही कह सकते। उसकी पुकार हमारी सम्भाव्यताओं की पुकार है, किसी व्यक्ति की नही।

शक्ति और स्वतन्त्रता

हाइडेगर का मत है कि शक्ति राज्य के माध्यम से व्यक्त होती है और स्वतंत्रता मानव की अनुपमता के द्वारा। दोनो तात्विक आधार पर प्रतिष्ठित है। राज्य और व्यक्ति एक दूसरे से पृथक् नही किये जा सकते। अत शक्ति और स्वतत्रता का पारस्परिक सबध है। प्रत्येक मानव का किसी न किसी राज्य से सबंध होता है। अतः उसे शक्ति को स्वीकार करना पड़ता है, किंतु उसका स्वतत्र रचनात्मक उद्देश्य भी होता है। समाज का ध्येय है। शक्ति और स्वतत्रता मे सामजस्य स्थापित करना।

प्रत्येक मानव एक राज्य का सदस्य होता है। अतः उसे अपने स्वार्थ और सकुचित दृष्टि को छोड़कर राज्य या समुदाय के हित को अपनाना चाहिए। किंतु किसी राज्य के नागरिक होने पर भी व्यक्ति को तात्विक स्वतत्रता होनी चाहिए।

समीक्षा

हाइडेगर ने अस्तित्वधारी पदार्थो से पृथक अस्तित्व का प्रतिपादन किया है, किंतु अस्तित्व मात्र क्या है जो किसी का अस्तित्व नही है, इस पर यथेष्ट प्रकाश नही डाला है।

उनकी मृत्यु की अनिवार्य विभीषिका भी खटकने वाली बात है। यह सत्य है कि साधारणजन को मृत्यु का त्रास होता है और उसके बाद की एक विचित्र रिक्तता की चिंता होती है, परन्तु ऐसे भी लोग कम नही है जिनका यह अटल विश्वास है कि केवल शरीर नश्वर है, आत्मा अमर है, जो मृत्यु की चिंता से त्रस्त नही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H. J., *Six Existentialist Thinkers*
HEIDEGGER, MARTIN, *The Question of Being*

5. गेब्रियल मार्सल (Gabriel Marcel)
1889

[अनुभव के स्तर, अस्तित्व और स्वामित्व, 'स्व' और 'पर', मानव की आंतर परिस्थिति, समस्या और रहस्य, समीक्षा।]

गेब्रियल मार्सल एक फ्रांसीसी दार्शनिक है। यह सारबोन विश्वविद्यालय मे दर्शन के प्राध्यापक है। इन्होने अस्तित्ववाद का ईसाई धर्म के कैथलिक मत के आधार पर प्रतिपादन किया है। यह एक अच्छे नाटककार भी हैं।

इनके मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित है *Journal Metaphysique* (1925), *Etre et avoir* (1935), *Les hommes Contre humain* (1951)

इनका अस्तित्ववाद कीर्कगार्ड के बहुत निकट हैं। इनकी धारणा है कि दर्शन और विज्ञान मे मुख्य भेद यही है कि विज्ञान मानव के आन्तरिक जीवन का कोई अध्ययन नही प्रस्तुत करता। दर्शन मानव को बाह्य पदार्थ के समान नही समझता। वह उसके आन्तरिक जीवन पर विचार करता है।

तर्काश्रित दर्शन और अस्तित्ववादी दर्शन मे यह भेद है कि अस्तित्ववाद मानव के आन्तरिक अनुभव पर विचार करता है जो सर्वथा तर्काश्रित नही होता। ईश्वर को केवल अस्तित्ववादी अनुभव के द्वारा ही समझा जा सकता है, तर्क के द्वारा नही।

अनुभव के स्तर

मार्सल ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है कि अनुभव के कई स्तर है। सबसे निम्न स्तर है प्रत्यक्ष और साधारण बुद्धि का। यह स्तर जो सामने है, प्रत्यक्ष है। साधारण बुद्धि से जाना जा सकता है, उसी को सब कुछ मानता है। जो सत्य इससे परे है वह इसके लिए नही के बराबर है। उसे यह सत्य मानता ही नही। उसे यह स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।

इससे उच्चतर स्तर वह है जिसमे हम प्रात्यक्षिक अनुभव से ऊपर उठकर उच्च-स्तरीय बुद्धि से जगत् को समझने का प्रयत्न करते हैं। विज्ञान इसी स्तर का ज्ञान है। वह सब पदार्थों को ग्राह्यगत (objective) दृष्टि से जानने की चेष्टा करता हैं। मनुष्य ग्राहक (subject) है, ग्राह्य (object) नही है, प्रमाता (subject) है, प्रमेय (object) नही है। प्रमेयपरक ज्ञान से हम प्रमाता को नही जान सकते। विज्ञान मनुष्य को हाड, मास प्राण और मन का पुन्ज मात्र समझता है। अन्य प्रमेयो और पदार्थों की भाति वह मनुष्य का अध्ययन करता है। इसीलिए वह

प्रमाता मानव को कभी नही जान पाता। मानव को असत्य, मिथ्या कह कर नही उड़ाया जा सकता। यदि मानव सत्य है तो उसके रहस्यपूर्ण अस्तित्व को समझना ही होगा।

वह दर्शन भी जो केवल तर्काश्रित है मानव को नही जान सकता। सच्चा दार्शनिक खण्डनमण्डनात्मक तर्क के पचड़े में नही पड़ता, वह द्रष्टा होता है। वह परोक्ष के भीतर अपरोक्ष सत्य को देख लेता है, तथाकथित अमूर्त की झाकी अन्न में प्राप्त करता है। यह प्रकाश प्रख्या के द्वारा, ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा होता है, शुष्क तर्क के द्वारा नही। अनुभव का सर्वोच्च स्तर यही है।

अस्तित्व और स्वामित्व

ऊपर हम देख चुके हैं कि तार्किक बुद्धि के द्वारा अस्तित्व को नही समझा जा सकता। जितना कि हम अस्तित्व को एक प्रमेय के रूप मे जानने की चेष्टा करते हैं उतना ही हम उससे दूर हो जाते हैं। इस तथ्य को उन्होंने अपनी *Etre et avoir* (Being and having)—अस्तित्व और स्वामित्व नामक पुस्तक में प्रतिपादित किया है।

अस्तित्व को हम एक प्रमेय की भांति नही जान सकते। उसको जानना नही होता है, पहचानना होता है, उससे मिलना होता है। सत्य का एक वस्तु के समान 'avoir' या 'having' अर्थात् स्वामित्व नहीं होता। उसको जानने के लिए 'etre' या 'being' वही हो जाना पड़ता है। उससे तादात्म्य स्थापित करना पड़ता है। सत्य को हम सहभागिता द्वारा जान सकते है, आधिपत्य द्वारा नहीं। अनासक्ति (detachibility) के द्वारा ही हम सत्य मे प्रवेश कर सकते है। आसक्ति ही मूल पाप है।

जब हमारा मानसिक रूपान्तरण (psychological conversion) हो जाता है, तभी हम सत्य के सुन्दर मुख का दर्शन कर सकते है। जीवन को एक प्रमेय की भांति जानने की चेष्टा करने से हमारा मानसिक रूपान्तरण नही हो सकता। ऐसा ज्ञान एक आभूषण के समान हमारे मानसिक दीवाल पर लटका रहता है। वह हमारी एक मानसिक सम्पत्ति बनकर रह जाता है। हम सत्य को तभी जान सकते हैं जब अपने जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन कर दें।

जब तक हम उच्च जीवन के प्रत्यय को अपने मन में धारण करते हैं तब तक वह केवल हमारे मन का एक स्वत्व, एक सम्पत्ति बना रहता है। जब कोई व्यक्ति उस प्रत्यय के वास्तवीकरण (realization) का दृढ़ सकल्प कर लेता है, तब उसमें एक आन्तरिक परिवर्तन होता है और तब वह प्रत्यय उसकी एक सम्पत्ति मात्र नही रह जाता, तब उस व्यक्ति का उस प्रत्यय से एकीकरण, तादात्म्य हो जाता है और तभी अस्तित्व या सत्य का परिचय मिलता है। ऐसे व्यक्ति ने उससे

तादात्म्य का स्वतन्त्र रूप से वरण किया है। वरण की स्वतन्त्रता ही अस्तित्व का मौलिक सिद्धान्त है। 'धारण करने' की, 'having' की, 'रखने' की, 'स्वामित्व' की अभिवृत्ति केवल मानसिक होती है, 'being' की 'होने की' अभिवृत्ति हमको सत्य के हृदय मे प्रवेश करा देती है। वही हमारे अस्तित्व का हमे दर्शन कराती है।

'स्व' और 'पर'

कोई भी व्यक्ति 'स्व' मे सीमित नही है। वह जगत् और पर के प्रति उन्मीलित है। उसका सारा व्यवहार 'पर' के प्रति होता है। 'पर' के प्रभाव से वह प्रभावित होता है। अस्तित्वपरक अनुभव मे 'पर' की विद्यमानता एक प्रमुख तथ्य है। 'मैं' और 'तू' का ऐसा नाता है जो विच्छिन्न नही किया जा सकता। 'मैं' और 'तू', 'स्व' और 'पर' का सान्निध्य एक दूसरे का प्रमाणीकरण है। व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि इस प्रकार मिलेजुले है कि एक दूसरे के समझने का सहायक बन जाता है। हम सभी इष्टो (values) के राज्य के नागरिक है और इन्ही इष्टो के द्वारा हमारे अस्तित्व पर पूरा प्रकाश पडता है।

मानव की आन्तर परिस्थिति

मानव की एक बाह्य परिस्थिति होती है और एक आन्तर परिस्थिति। उसकी आन्तर परिस्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। उसके अन्तस् मे एक अनुभवातीत 'स्व' (transcendental self) है जो कि एक ज्ञेय के रूप मे कभी नही जाना जा सकता। वह परमतत्त्व है, रहस्यपूर्ण है, किन्तु वही मानव जीवन का आधारभूत तथ्य है। उसी के द्वारा हम अपने जीवन के परम इष्ट को चरितार्थ कर सकते हैं। उसी अनुभवातीत आत्मा के परिप्रेक्ष्य मे जीवन की समस्याए पूर्ण रूप से समझी जा सकती है।

अनुभवातीत आत्मा का परिचय तार्किक बुद्धि के द्वारा नही प्राप्त किया जा सकता। चित्त की चञ्चलता समाप्त होने पर ही उसका परिचय मिल सकता है।

ईश्वर का भी अस्तित्व तार्किक प्रमाणो द्वारा नही सिद्ध किया जा सकता। अपने तात्त्विक स्वरूप का ध्यान ही ईश्वर के परिचय का मार्ग है।

समस्या और रहस्य

मार्सेल ने समस्या और रहस्य मे महत्त्वपूर्ण भेद बतलाया है। समस्या वह है जिसका हमे सामना करना पडता है, जिसको हम अनुमान इत्यादि प्रमाणो और बौद्धिक विश्लेषण (intellectual analysis) से हल करते है। उदाहरण के लिए, मगल तारा मे जीव है या नही—यह एक समस्या है। किन्तु तात्त्विक अस्तित्व अनुभवातीत 'स्व,' 'ईश्वर'—ये रहस्य है। इनकी सिद्धि प्रमाणो द्वारा नही हो

सकती। आत्मा या ईश्वर तो सब प्रमाणों का प्रभव है। अतः प्रमाण अपने प्रभव को नहीं प्रमाणित कर सकते। रहस्य का परिचय तभी मिल सकता है जब हमारी चित्त की वृत्तियां सिमट कर अपने ध्येय में खो जायें। उस समय तात्त्विक अस्तित्व का यह स्फोट होता है जिसमें शंका के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। अथवा रहस्य का परिचय प्रेम द्वारा मिलता है जिसमें प्रेमी और प्रिय में सब व्यवधान मिट जाता है। अथवा वह उस अनुस्मरण द्वारा जाना जा सकता है जिसके माध्यम से हम पूर्ण आत्मसमर्पण कर देते हैं। इस अनुस्मरण को मार्सल ने 'creative fidelity'—'अटूट सर्जनात्मक निष्ठा' कहा है। यह निष्ठा तात्त्विक अस्तित्व की सहभागिता की उच्चाकांक्षा है।

वस्तुतः रहस्य का परिचय- अनुग्रह (grace) के द्वारा होता है। यह अनुग्रह अटूट श्रद्धा से मिलता है। मार्सल के अनुसार श्रद्धा और प्रेम दोनों एक ही हैं।

समीक्षा

'अस्तित्व' और 'स्वामित्व' तथा 'समस्या' और 'रहस्य'—इन दोनों में मार्सल ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे निस्सन्देह चिन्तन की एक नयी दिशा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। जीवन के गम्भीर रहस्य वाद-विवाद के द्वारा नहीं जाने जा सकते। हमें उनका परिचय अपरोक्षानुभूति से ही मिल सकता है। मार्सल पर बर्गसाँ का प्रभाव था। किन्तु बर्गसाँ जैवविज्ञान के मार्ग से चले थे, मार्सल ने इस सत्य का दर्शन आन्तरिक आध्यात्मिक परिवर्तन और ईश्वर के विषय में चिन्तन के द्वारा किया है।

मार्सल में केवल अस्तित्ववादियों का उस एकपक्षीय चिन्तन का दोष था जो अस्तित्व को स्वभाव या सार से सर्वथा भिन्न समझता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H. J., *Six Existentialist Thinkers.*
MARCEL, G., *The Philosophy of Existence,*

6. ज्याँ पॉल सार्त्र (1950)

[अस्तित्व और सत्त्व; सार्त्र की ज्ञानमीमांसा; अपने लिए अस्तित्व; अपने में ही अस्तित्व; स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व; अस्तित्व की निस्सारता; सार्त्र का अनीश्वरवाद; समीक्षा।]

सार्त्र पहले फ्रांस में एक स्कूल में अध्यापक थे। द्वितीय विश्व संग्राम में उन्होंने फौज में काम किया था। वह शत्रुओं द्वारा कैद कर लिये गये थे, किन्तु बीमारी के कारण छोड़ दिये गये। फौज से लौटने के बाद उन्होंने लिखने का काम प्रारम्भ किया। उन्होंने उपन्यास, नाटक और दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं।

वह जर्मनी के हुजर्ल के साशय प्रपञ्चवाद (Phenomenonalism), नीत्शे के निरीश्वरवाद और हाइडेगर के तात्त्विक दर्शन से प्रभावित हैं। उनका मुख्य दार्शनिक ग्रन्थ है *L' Etre et le Neant being and nothingnessp* (1943)। इसके अतिरिक्त उनके दार्शनिक ग्रंथ हैं *L' Existentialisme et un Ahumanisme* (1947), *Critique de la raison dialectique* (1960)। उन्होंने अपने दार्शनिक मत का अपने उपन्यासों में भी उपयोग किया है जिनमें से मुख्य है *La Nausee* (nausea)। इधर वह अस्तित्ववाद के आधार पर मार्क्सवाद का प्रतिपादन करने लगे हैं।

संक्षेप में उनका दर्शन निम्नलिखित है

अस्तित्व और सत्त्व

सभी अस्तित्ववादियों के समान सार्त्र का भी यही मत है कि सत्त्व (essence) अस्तित्व (existence) से पूर्व नहीं होता। अस्तित्व ही सत्त्व से पूर्व होता है। मानव का लक्षण एक सामान्य मानवत्व धर्म से नहीं निर्धारित होता। वह तो सदा से विद्यमान है। जैसा कुछ वह सोचता है, जैसा कुछ वह बनना चाहता है वैसा बन जाता है। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर के चित्त में मानवत्व नामक एक सामान्य सत्त्व रहता है और उसी के अनुसार मानव का अस्तित्व घटित होता है, तो सार्त्र का उत्तर यह है कि ईश्वर की ही सत्ता नहीं है तो उसके चित्त में 'मानवत्व' नामक सत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है।

सार्त्र की ज्ञानमीमांसा (Epistemology)

सार्त्र की ज्ञानमीमांसा बहुत कुछ हुजर्ल की ज्ञानमीमांसा पर प्रतिष्ठित है। हुजर्ल के अनुसार दर्शन का मुख्य उद्देश्य है प्रपञ्चों के अर्थ का विश्लेषण करना। हुजर्ल का कहना है कि (Phenomena) या प्रपञ्च शब्द का अर्थ केवल दृश्य पदार्थ नहीं हैं, किन्तु राग-द्वेष, वेदना, राजनीतिक संस्था, दार्शनिक मत इत्यादि जो दृश्य अथवा ज्ञेय के रूप में प्रकट होता है वह सभी कुछ प्रपञ्च है। जो कुछ दृश्य या ज्ञेय है उसका औचित्य केवल मानव चेतना के सम्बन्ध में ही है। प्रपञ्चों के पीछे प्रपञ्चातीत तत्त्व (noumena) नहीं मानना चाहिए क्योंकि प्रपञ्चों की सार्थकता केवल मानव चेतना के सम्बन्ध में ही है। इससे परे और कोई तत्त्व मानने का कोई प्रमाण नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रपञ्चपूर्ण जगत्

की कोई सत्ता ही नहीं है। प्रपञ्च के विश्लेषण में ही हम उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। चेतना से पृथक् प्रपञ्च के विषय में हम न तो अस्तित्वाची न नास्तिवाची शब्द से कुछ कह सकते हैं।

सार्त्र हुजर्ल से इस बात में सहमत हैं कि प्रपञ्च के प्राकट्य के पीछे कोई छिपा हुआ प्रपञ्चातीत तत्त्व नहीं है। निस्सन्देह प्रपञ्च किसी चेतन व्यक्ति को ही प्रकट होता है, किन्तु वह अपने पूर्ण रूप में प्रकट होता है, किसी अन्य तत्त्व का प्रतिभास मात्र नहीं है। इस प्रकार सार्त्र अपनी ज्ञानमीमांसा में न तो यथार्थवाद और न ही चिद्वाद को अवकाश देते हैं।

किन्तु हुजर्ल यह मानते हैं कि प्रपञ्च का अर्थ अनुभवातीत आत्मा (transcendental ego) निर्धारित करता है। सार्त्र हुजर्ल से इस बात मे सहमत नहीं हैं। वह अनुभवातीत आत्मा को कोरी कल्पना मानते हैं। सार्त्र यह कहते हैं कि प्रपञ्च का अर्थ मानव चेतना द्वारा निर्धारित होता है। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि यह मानव चेतना व्यक्तिगत नहीं है। यदि वह व्यक्तिगत नहीं है, तो क्या कोई व्यक्ति निरपेक्ष तत्त्व है? सार्त्र कहते हैं कि वह न तो आत्मनिष्ठ (subjective) है, और न वस्तुनिष्ठ (objective)। वह nothing या अवस्तु है। इस nothing से उनका क्या तात्पर्य है यह हम आगे देखेंगे।

अपने लिए अस्तित्व (Being for Itself)

जगत् के जितने पदार्थ हैं उनकी तभी सार्थकता है जब उनका मानव चेतना से सम्बन्ध हो जाय। ज्ञान मानवीय चेतना का कार्य है। प्रश्न यह होता है कि इस मानवीय चेतना का स्वभाव क्या है। सार्त्र का कहना है कि उसका स्वभाव कुछ नहीं (nothing) है। मानव का वैशिष्ट्य यह है कि वह बराबर कुछ न कुछ चाहता रहता है। उसकी कामना का लक्ष्य उससे दूर अथवा भविष्य मे है। इसलिए वह कुछ नहीं (nothing) है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मानवीय चेतना की कोई सत्ता नहीं है। उसकी चेतना के भीतर बहुत कुछ है, किन्तु उस सबकी सार्थकता चेतना के लक्ष्य के द्वारा ही आकी जा सकती है। मानव का जो कुछ अनुभव है वह उसकी चेतना का भविष्य में प्रक्षेपण (projection) का परिणाम है। किन्तु भविष्य तो सामने है नहीं। उसका तो अभी अभाव है। इसलिए सार्त्र उसे 'कुछ नहीं' कहते है।

सार्त्र मानव चेतना को being for itself कहते हैं जिसका भाव है 'अपने लिए अस्तित्व'। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् की वस्तुओं के अस्तित्व की सार्थकता केवल मानवीय चेतना के लिए है। जगत् के पदार्थो की सत्ता पूर्णतः अपने आप में है, किन्तु मानव चेतना का कोई सुनिश्चित लक्षण नहीं है। चेतना जो कि मानव की विशेषता है केवल उन पदार्थो को प्रकाशित करती है जो उसके

विषय हैं। इसके अतिरिक्त चेतना 'कुछ नहीं' (nothing) है, इसके अतिरिक्त उसका कोई सार अथवा सत्त्व नहीं है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मानवीय चेतना का अस्तित्व केवल ज्ञाता (subject) के रूप में है। वह कभी-कभी अभिदृश्यक (objective) हो सकती है, जैसे लज्जा (shame) में। जो व्यक्ति पहले ज्ञाता था वही लज्जा की स्थिति में दूसरों के लिए अभिदृश्य या विषय (object) बन जाता है। जिसका अस्तित्व केवल अपने लिए था, उसका अस्तित्व अब दूसरों के लिए भी हो जाता है।

अपने में ही अस्तित्व (Being in Itself)

हम ऊपर देख चुके हैं कि 'अपने लिए ही अस्तित्व' या मानवीय चेतना क्रियाशील होती है और भविष्य के लिए अपना प्रक्षेपण (projection) करती रहती है। किसके प्रति चेतना का प्रक्षेपण होता रहता है? सार्त्र का कहना है कि चेतना का प्रक्षेपण अपने में अस्तित्व (being in itself) के प्रति अर्थात् विषयों के प्रति होता है। विषयों के लिए सार्त्र ने being in itself (अपने में अस्तित्व) शब्द का प्रयोग किया है। विषयों की अपनी कठोर, निरपेक्ष सत्ता है। विषय चेतना पर आश्रित नहीं हैं।

स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व (Freedom and Responsibility)

यदि विषयों की अपनी निरपेक्ष सत्ता है, तो विषय ग्राह्य या ज्ञेय कैसे बनते हैं? सार्त्र का कहना है कि ये मानव की स्वतंत्रता द्वारा ज्ञेय बनते हैं। मानव चेतना अपनी स्वेच्छा से, अपनी स्वतंत्रता से विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहती है। इसी तादात्म्य स्थापित करने की क्रिया द्वारा चेतना एक साथ ही विषयों को ज्ञेय बनाती है और अपनी स्वतंत्रता घोषित करती है।

(सार्त्र के अनुसार चेतना का अपना कोई विशेष लक्षण या सार नहीं है।) दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ हुआ कि जब चेतना किसी विशेषता के द्वारा परिसीमित नहीं है तो वह उन्मुक्त रूप से स्वतंत है। (मानव की चेतना कुछ अभाव का अनुभव करती रहती है। इस अनुभव से प्रेरित होकर अपने अतीत का निषेध कर वह अपने वांछित लक्ष्य को पूरा करने के लिए अग्रसर होती है। इस प्रकार का वरण या चयन यह सिद्ध करता है कि मानव की चेतना में स्वतंत्रता (freedom) है। यह तात्त्विक स्वतंत्रता (ontological freedom) है।

मानव में नैतिक स्वतंत्रता (ethical freedom) भी है। मानव क्रियाशील प्राणी है। जब उसके सामने कोई कठिनाई आती है, तो उसके लिए दो ही विकल्प हैं: या तो वह उससे निपटने का उत्तरदायित्व दूसरे पर थोप दे, या स्वयं डट कर उसका सामना करे। दूसरे पर उसे छोड़ देना अपने उत्तरदायित्व से भागना है।

उसे विवश होकर अपने उत्तरदायित्व को निभाना पडता है और अपनी स्वतन्त्रता को कार्यान्वित कर उसका सामना करना पडता है। इसी बात को सार्त्र ने इन शब्दो मे कहा है Man is condemned to be free—मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को कार्यान्वित करने मे विवश है। यदि वह दूसरो के सकेत पर ही काम करता है, यदि वह एक कठपुतली बन जाता है, तो इस स्थिति का उसी ने तो वरण किया है।

उसे अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करके अपनी स्वतन्त्रता को कार्यान्वित करना चाहिए। जब वह किसी विशेष कार्य का वरण करता है तो वह अपनी स्वतन्त्रता को उद्घोषित करता है और मानवता के आदर्श को दूसरे के सम्मुख प्रत्युपस्थापित करता है। उसमे यह विश्वास होता है कि कोई भी कार्य वास्तव मे शुभ नही कहा जा सकता जब तक कि वह सबके लिए शुभ न हो। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का भाव जाग्रत हो सकता है और एक स्वस्थ समाज सघटित हो सकता है।

इधर सार्त्र पर मार्क्स का प्रभाव हुआ है और वह ऐसे समुदायो के बनाने के पक्ष मे है जो सहितत्व की भावना के आधार पर अपनी मागो के लिए सघर्ष कर सकें।

अस्तित्व की निस्सारता

सार्त्र का कहना है कि अस्तित्व मे, जीवन मे एक विचित्र अनिश्चितता है जिससे यह प्रतीत होता है कि अस्तित्व मे सर्वथा निस्सारता है, अर्थहीनता है, युक्तिहीनता है। यह जगत् कठोर तथ्यो का सघात मात्र है, अस्तित्व सर्वथा बेतुका और लचर है। इस बात को उन्होने nausea शब्द से व्यक्त किया है जिसका अर्थ है जुगुप्सा, कुत्सा।

मानव की चेतना कुछ नही (nothing) है। यदि वह कुछ के द्वारा परिसीमित हो जाय तो वह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नही हो सकती। सार्त्र ने अपने दर्शन मे एक ओर कठोर तथ्यो का निस्सार जगत् और दूसरी ओर अनिश्चित किन्तु स्वतन्त्र चेतना की विचित्र खिचडी पकायी है।

सार्त्र का अनीश्वरवाद (Atheism)

सार्त्र ईश्वर को नही मानते। उनके अनुसार ईश्वर का प्रत्यय इसलिए विरोधात्मक है कि इस एक ही प्रत्यय मे अस्तित्व (being) और अकिञ्चनत्व (nothing) का मेल किया गया है।

समीक्षा

सार्त्र की ज्ञेय मीमासा दूषित है। एक ओर तो वह जगत् के पदार्थों की, चेतना से अतिरिक्त, स्वतन्त्र सत्ता मानते है जो कि यथार्थवाद (realism) का मत है, दूसरी ओर वह यह भी कहते है कि मानव चेतना ही पदार्थों को सार्थकता प्रदान करती है जो कि चिद्वाद (idealism) का मत है। वह दुहाई देते हैं यथार्थवाद की ओर गिर पडते हैं चिद्वाद मे। उनकी ज्ञेय मीमासा विरोधग्रस्त है।

प्रमाता (self) के विषय मे भी उनका दर्शन दोषपूर्ण है। उन्होन यौक्तिक प्रमाता और मनोवैज्ञानिक प्रमाता (psychological self) मे भ्रामक गडबडी की है। वह अनुभवातीत प्रमाता (transcendental ego) को नही मानते। किन्तु अनुभवातीत प्रमाता ही तो अनुभव की सम्भावना की अनिवार्य यौक्तिक शर्तं (logical condition) है और मानवीय उच्च इष्टो का मानक है।

हाइडेगर के angst—चिन्ता या त्रास के समान सार्त्र की nausea—जुगुप्सा या कुत्सा दु खवाद (pessimism) का चित्र उपस्थित करती है और अस्तित्व को, जीवन को पागलपन का गोरखधन्धा बतलाती है। व्यक्ति की मानसिक स्थितियो (psychological conditions) को उन्होने तात्त्विक पद (ontological state) प्रदान कर दिया है। यह उनका सबसे बडा दोष है। उन्होने सारे जीवन को, अस्तित्व को (absurd) बेतुका, लचर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका दर्शन स्वय बहुत कुछ अश मे लचर है। वह स्वभावत उपन्यासकार हैं। यदि वह दर्शन मे टाग न अडाते तो दर्शन के ऊपर उनकी बडी कृपा होती।

उनकी प्रतिस्पर्धा और भावात्मक पृथकता के सिद्धान्त ने उनके नैतिक दर्शन को भी दूषित कर दिया है। आत्मपर्याप्तता और स्वार्थ ही मानव का पूर्ण चित्र नही है। अन्य के साथ सहभाव और सहानुभूति भी मानव स्वभाव का एक अग है और यही नैतिकता का आधार है।

उन्होन ईश्वर को भी उडा दिया है। यदि वह अपने आत्मा को ठीक ढग से समझने का प्रयत्न करते तो उन्हे ईश्वर के रहस्य का पता लग जाता। गालिब ने बडे सुन्दर शब्दो मे कहा है

> हम न होते तो खुदाई का भरम मिट जाता।
> तेरी हस्ती का पता है मेरा इन्सा होना॥

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BLACKHAM, H J, *Six Existentialist Thinkers*
SARTRE, J P *Being and Nothingness*

अध्याय 4

व्यवहारवाद अथवा अर्थक्रियावाद
(PRAGMATISM)

[चार्ल्स सैंडर्स पर्स; सम्भावितावाद; न्याय और ज्ञानमीमासा; वैज्ञानिक विधि और स्खलनशीलतावाद; पर्स के अनुसार तत्त्वमीमासा; व्यवहारवाद; विलियम जेम्स; जेम्स के अनुसार अनुभव, अनुभव की निर्मिति मे अवधान और समीहा का योगदान, अनेकत्ववाद; व्यक्तित्व का स्वरूप; जेम्स का व्यवहारवाद तथा सत्यनिरूपण; ईश्वर का स्वरूप; विश्वास करने की समीहा; शिलर; सत्य का मानववादी या व्यवहारवादी सिद्धात; सत्य-असत्य की परिभाषा; व्यवहारवादी न्याय; सद्वस्तु का सिद्धात; व्यवहारवाद और नैतिक आचार, व्यवहारवाद और धर्म, जान ड्यूई; ड्यूई के विचारो की पृष्ठभूमि, मन का प्रतीकात्मक कार्य; ड्यूई का उपकरणवाद; ड्यूई के धर्म सबधी विचार; नैतिकता के सबध मे ड्यूई के विचार; समीक्षा।]

प्रैगमटिज्म अर्थात् व्यवहारवाद वस्तुत कोई विशेष दर्शन नही है। यह दर्शन के प्रति एक मानसिक अभिवृत्ति है, दार्शनिक समस्याओ को सुलझाने के लिए एक विशेष प्रवृत्ति है। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले चार्ल्स पर्स (Charles Peirce) ने 1878 मे किया था। विलियम जेम्स ने उसे अपनाया। उसके बाद प्रैगमटिज्म प्रचार में आया।

1. चार्ल्स सैण्डर्स पर्स, 1839-1914
(Charles Sanders Peirce)

इनका जन्म अमेरिका के कैम्ब्रिज मसेचुसेट्स नामक नगर मे 10 सितम्बर 1839 मे हुआ। इन्होने 1862 में हार्वर्ड से एम० ए० किया। इन्होने दो वर्ष तक हार्वर्ड मे और पाच वर्ष तक जान्स हाप्किन्स मे दर्शन का अध्यापन किया। इनके जीवन

का अधिकाश समय अमरिका के कोस्ट सर्वे मे बीता। इनका 1914 मे मिलफोर्ड मे निधन हुआ। इनके निबन्धों का सग्रह् इनकी मृत्यु के बहुत बाद मे प्रकाशित हुआ।

इन्होंने प्रतीकात्मक न्याय (symbolic logic), तत्त्वदर्शन (metaphysics) और नीतिशास्त्र (ethics) पर कई निवन्ध लिखे थे और अर्थ (meaning) की समस्याओ का विश्लेषण किया था।

सम्भावितावाद (Tychism)

पर्स अन्त प्रज्ञावाद (intuitionism) और प्रागनुभविकत्व (a' priorism) के बहुत विरुद्ध थे और प्रयोगवाद (experimentalism) के बहुत पक्ष मे थे।

वह डार्विन से बहुत प्रभावित थे। डार्विन के समान उनका विश्वास था कि विश्व मे एक योनि से दूसरी योनि मे विवर्तन (evolution) किसी आकस्मिक घटना अथवा सम्भाविता (chance) द्वारा होता है। इस वाद के लिए उन्होने ग्रीक शब्द (tyche) से (tychism) अर्थात् सम्भावितावाद बनाया। उनकी मान्यता थी कि प्रकृति मे जब एक विशिष्ट योनि का दूसरी योनि मे एकाएक परिवर्तन होता है तो सम्भाविता के द्वारा ही होता है।

न्याय और ज्ञानमीमासा (Epistemology)

न्याय और ज्ञानमीमासा म पर्स यथार्थवाद के समथक थे। उनकी मान्यता थी कि यथाथता प्रयोग अथवा सम्परीक्षा के द्वारा सिद्ध हो सकती है। वह ज्ञान-मीमासा मे सत्य की अनुरूपता (correspondence theory of truth) के सिद्धात को मानते थे। उनके अनुसार वही प्रत्यय यथार्थ समझा जा सकता है जो किसी वास्तविक सत्ता से सम्बद्ध हो।

यथार्थ ज्ञान प्रतिमा (icon), अभिसूचक (index) और प्रतीक (symbol) के सबध द्वारा उत्पन्न होता है। किसी वस्तु के ज्ञान के लिए ये चिह्न के रूप मे काम करते हैं। उदाहरण के लिए एक पीला पुष्प लीजिये। जब हम कहते ह 'यह पुष्प', तो 'यह' शब्द अभिसूचक का काम करता है। उसका पीला रग प्रतीक का काम करता है। चित्रावन अथवा अनुकरणात्मक पद के द्वारा वस्तु की प्रतिमा सामने आ जाती है। मानव इन्ही चिह्नो के द्वारा जगत् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है।

वह यह मानते थे कि मानव अनुभव के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु वह लॉक (Locke) की भाति यह नही कहते थे कि मानव का चित्त सर्वथा श्वेत-पत्र (tabula rasa) के समान है और इन्द्रियो के द्वारा चित्त पर वस्तुओ की छाप से ही ज्ञान होता है। वह यह मानते थे कि ज्ञान वाह्य जगत् के प्रभाव और चित्त की सक्रियता दोनों के सयोग से होता है।

ज्ञान तभी पूर्ण होता है जब वह सन्देहरहित हो। किन्तु मानव का ज्ञान सदा पूर्ण नहीं होता। उसका ज्ञान अधिकतर सापेक्ष ही होता है। फिर मानव को सत्य की खोज करते रहना चाहिए, क्योंकि सत्य ही ज्ञान का चरम लक्ष्य है।

वैज्ञानिक विधि और स्खलनशीलतावाद

पर्स का अन्तःप्रज्ञा (intuition) पर विश्वास नहीं था। वह कोई तथ्य स्वतः-सिद्ध नहीं मानते थे। न वह आप्तवचन को स्वीकार करने के पक्ष में थे। वह सत्य को जानने के लिए वैज्ञानिक विधि के पक्ष में थे। पर्यवेक्षण (observation), सामग्री का एकत्रीकरण (collection of data), प्रयोग अथवा सम्परीक्षा (experimentation), अभ्युपगम का निरूपण (formulation of hypothesis), और सत्यापन (verification) जो विज्ञान की विधि है इसी के द्वारा सत्य का निर्धारण हो सकता है।

वह यह मानते थे कि वैज्ञानिक विधि के अपनाने पर भी ज्ञान को सर्वथा निर्भ्रान्त बनाना कठिन है। प्रत्येक प्रस्थापना को अभ्युपगम की तरह समझना चाहिए। मानव का कोई भी ज्ञान अन्तिम नहीं हो सकता। उन्होंने बड़े तर्क के साथ यह सिद्ध किया है कि मानव के ज्ञान में स्खलनशीलता होती है। उनकी इस उपस्थापना को स्खलनशीलतावाद (fallibilism) कहते हैं।

पर्स के अनुसार तत्त्वमीमांसा

पर्स तत्त्वमीमांसा (metaphysics) को एक विज्ञान (science) मानते थे। यह प्रपञ्चविज्ञान (phenomenology), गणित और इष्टत्व (value) के मूल सिद्धांतो पर प्रतिष्ठित है।

उन्होने तत्त्वमीमांसा में यथार्थवाद (realism) का समर्थन किया है। उन्होंने सामान्यों (universals) की यथार्थता का प्रतिपादन किया है और नामवाद (nominalism) का घोर विरोध किया है। उनका कहना है कि विज्ञान विशेष का नहीं, सामान्य का अनुसंधान करता है।

उनके अनुसार जगत् का स्वरूप वैज्ञानिक विधि से ही जाना जा सकता है। जगत् में तीन नियम प्रतीत होते है जो एक दूसरे पर आश्रित है। एक है सम्भावितावाद जिसके द्वारा घटनाओं में आकस्मिकता परिलक्षित होती है। दूसरा है प्रेमभाववाद (agapism) जिसके द्वारा जगत् मे विकास होता है। तीसरा है निरन्तरतावाद (synechism) जिसके द्वारा जगत् की सभी वस्तुओं में पारस्परिक अवलम्बन और पारस्परिक सबंध बना रहता है।

व्यवहारवाद (Pragmatism)

पर्स का आधुनिक चिन्तन को सबसे बड़ा योगदान उनका pragmatism या व्यवहारवाद है। पर्स ने यह शब्द ग्रीक भाषा के 'pragma' से बनाया है जिसका अर्थ होता है क्रिया, व्यवहार। वह यह समझते थे कि दर्शन जिन विचारो और प्रत्ययों का प्रयोग करता है उनके वास्तविक अर्थ और महत्व का तभी पता चल सकता है जब हम जान लें कि उनके द्वारा जीवन, आचरण और व्यवहार मे कहा तक सफलता मिलती है। किसी भी प्रत्यय के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण तभी हो सकता है जब हम उसे व्यवहार के परिप्रेक्ष्य मे सफल पावे। पर्स ने जिस व्यवहारवाद का सिद्धात प्रत्ययो के वास्तविक स्पष्टीकरण के लिए बनाया था उसे जेम्स ने सत्य के परीक्षण के रूप मे परिवर्तित कर दिया। पर्स के लिए व्यवहारवाद प्रत्ययों के अर्थ-निर्णय के लिए साधन मात्र था।

2. विलियम जेम्स, 1842-1910
(William James)

विलियम जेम्स 1842 ई० मे पैदा हुए थे। अमेरिका मे उनकी कोटि के बहुत कम चिन्तक हुए। लेखनशैली मे तो वह अद्वितीय थे। उन्होने 1870 मे हार्वर्ड विश्वविद्यालय से एम०डी० की उपाधि प्राप्त की थी और हार्वर्ड मे ही 1880 से 1907 तक दर्शन और मनोविज्ञान के प्रोफेसर रहे। 1890 मे उनका ग्रन्थ *Principles of Psychology* प्रकाशित हुआ। इससे उनकी ख्याति अमेरिका और यूरोप भर फैल गयी। उनके और ग्रन्थ निम्नलिखित है *The Will to Believe and Other Essays*, 1897, *Varieties of Religions Experience*, 1902, *Pragmatism*, 1907; *A Pluralistic Universe*, 1909, *Some Problems of Philosophy*, 1911, *Essays in Radical Empiricism*, 1912

जेम्स के अनुसार अनुभव

जेम्स ने ज्ञानमीमासा को ऐन्द्रिय अनुभव के आधार पर प्रतिष्ठित किया है, किन्तु लॉक की तरह वह यह नही मानते थे कि अनुभव भिन्न भिन्न पृथक् पदार्थों का एक समूह है। उनकी यह धारणा थी कि अनुभव पृथक्-पृथक्, खण्डित विरल सत्ताओं का समूह नही है। वह एक अविच्छिन्न सतत प्रवाह है जो कि देश और काल के द्वारा खण्डित नही किया जा सकता। एक सत्ता दूसरी सत्ता मे डूबती हुई, मिलती हुई चली जाती है। यह सच है कि कुछ सत्ताएं पृथक् रूप मे वस्तु और पदार्थ प्रतीत होती हैं, किन्तु वे सब अनुभव के प्रवाह से सम्बद्ध होती है। इसलिए बहुत्व से परिपूर्ण होते हुए भी चेतना एक होती है।

इस दृष्टि से द्रव्य और गुण, उपादान और आकार इत्यादि के प्राचीन भेद ध्वस्त हो जाते है और अनुभव के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं। इन्द्रियगोचर सत्ताएं उन संबंधों से विच्छिन्न नही की जा सकतीं जिनमें वे घटित होती हैं। वे अनेक सम्बन्धसूचक तथ्यों से जुड़ी रहती है जिनसे वे विलग नहीं की जा सकती। 'का,' 'में,' 'पर,' 'से,' 'द्वारा,' 'पूर्व,' 'पश्चात्' इत्यादि ऐसे संबंधसूचक तथ्य हैं जिनसे अनुभव की वस्तुएं पृथक् नहीं की जा सकती। वे वस्तुएं उन संबंधों के साथ एक अनुभव के प्रवाह में बहती हुई चलती हैं। अनुभव निरपेक्ष है। न तो वह मानसिक है, न भौतिक। जेम्स अपने दर्शन को मौल अनुभववाद (radical empiricism) कहते हैं।

अनुभव को निर्मिति में अवधान और समीहा का योगदान

अनुभव अकेले प्रत्यक्ष से नही बनता। उसकी निर्मित मे अभिरुचि (interest), अवधान (attention), और समीहा (volition) का पर्याप्त योगदान होता है। चेतना केवल प्रत्यक्ष पर आश्रित नही होती। वह समीहात्मक भी होती है। वह किसी विशेष तथ्य में अभिरुचि रखती है। उस पर ध्यान देती है। उसका चयन करती है। अपनी समीहा से उसको अनुभव का अग बनाती है।

अनुभव का क्षेत्र बहुत बड़ा होता है। वह केवल तात्कालिक प्रत्यक्ष पर अवलम्बित नही होता। प्रत्यक्ष तो परिसीमित होता है। चेतना मे स्मृति, कल्पना, प्रत्यय की शक्ति होती है। स्मृति के द्वारा हम अतीत को उपस्थापित करते है और कल्पना के द्वारा हम अनागत का चित्र बनाते हैं। हमारे अवधान, कल्पना और समीहा द्वारा सामान्य प्रत्यय भी बनते है जिनका हमारे अनुभव और जीवन में बड़ा योगदान होता है।

अनेकत्ववाद

जेम्स का यह विश्वास था कि नानात्व और विविधता से परिपूर्ण विश्व की व्याख्या एक तत्त्व के द्वारा नही की जा सकती। वह निरपेक्ष चिद्वाद (absolute idealism) के बहुत विरुद्ध थे जो कि समस्त विश्व की व्याख्या एक चित् के द्वारा उपस्थापित करता है।

विश्व में नाना प्रकार की सत्ताए हैं। उनमे एक सामञ्जस्य की प्रतीति तो हो सकती है, किन्तु वे सब एक ही तत्त्व की परिणति नही मानी जा सकती।

इस जगत् मे शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर, ज्ञान-अज्ञान, राग-द्वेष, पत्थर, वनस्पति, पशु, मनुष्य, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष असख्य सत्ताए हैं। इन सबको एक परमतत्त्व का परिणाम मानना बुद्धि अथवा तर्क के विपरीत है। प्रत्येक सत्ता की अपनी विशेषता होती है। पदार्थों की विशेषताओ को अपसारित कर उन सबको

एक सामान्य तत्व में ठूसना न्याय के विरुद्ध है। इन सब में सामञ्जस्य तो स्थापित किया जा सकता है किन्तु इनके विशेष अस्तित्व को निरस्त नहीं किया जा सकता। विश्व के विकास में संयोग (chance) और स्वत प्रवृत्ति दोनों परिलक्षित होते हैं। हम सारे विश्व की एक सामान्य नियम से व्याख्या नहीं कर सकते।

व्यक्तित्व का स्वरूप

मानव में चेतना का प्रवाह नदी के जल के समान सतत होता रहता है। प्रत्यक्ष, वेदन, भाव, विचार, प्रत्यय इत्यादि परस्पर सम्बद्ध होकर प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रवाह में निरन्तरता होती है। इसमें कभी विच्छेद नहीं होता। चेतना के प्रवाह के पीछे किसी चिन्तक, ज्ञाता अथवा आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

प्रश्न होता है कि यदि केवल चेतना का प्रवाह ही सत्य है तो फिर हमारे भीतर चिंतक, ज्ञाता, अथवा आत्मा के तादात्म्य अथवा अनन्यता का अभिज्ञान कैसे बना रहता है। जेम्स का उत्तर है कि पूर्ववर्ती चेतना या ज्ञान उत्तरवर्ती चेतना या ज्ञान में प्रवाहित होकर इस प्रकार मिल जाता है कि दोनों में किसी प्रकार का व्यवधान या विच्छेद नहीं हो पाता। अत हमें तादात्म्य (identity) या अनन्यता का भान होता है। केवल एक ज्ञान या चिन्तन सन्तति बनी रहती है। ज्ञान से भिन्न कोई ज्ञाता नहीं है। चेतना से भिन्न कोई चिन्तक नहीं है। यही चिन्ता या ज्ञान प्रवाह या संतति ही मानव के व्यक्तित्व का वास्तविक स्वरूप है।

जेम्स का व्यवहारवाद (Pragmatism) तथा सत्यनिरूपण

जेम्स का व्यवहारवाद डार्विन के जैविक सिद्धान्त से बहुत प्रभावित है। उनकी धारणा है कि जीव के लिए अपने परिवेश के साथ समाभियोजन में जो सहायक हो वही वास्तविक ज्ञान है वही सत्य है।

जिस विचार या विश्वास से काम चलता है, जीवन में सफलता मिलती है वही सत्य है। 'what works is true'—जिससे काम चलता है वही सत्य है। यह व्यवहारवाद बुद्धिवाद का विरोधी है। जेम्स यह नहीं मानते कि बुद्धि चित्त का मूलभूत लक्षण है। चित्त तो एक गत्यात्मक (dynamic) प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीवन परिवेश से अपना समाभियोजन (adjustment) करता है। बुद्धि या प्रत्यय नहीं समीहा (will) चित्त का मूलभूत लक्षण है।

छोड़ो शुष्क तर्क को। यदि तुम्हारी समीहात्मक प्रवृत्ति तुम्हें सफलता प्राप्त करा देती है तो बस वही सत्य है। कोई भी प्रत्यय या ज्ञान अपने में न सत्य है, न असत्य। सत्य मानवीय प्रयोजन और मूल्यों के सापेक्ष है। सत्य मानवकृत है। जब कोई विचार या विश्वास सत्यापित (verified) होता है तभी वह सत्य माना जा सकता है और वह सत्यापित तभी होता है जब व्यावहारिक जीवन में सफल सिद्ध

हो। चिन्तन समीहन का अनुचर है।

ईश्वर का स्वरूप

जेम्स का कहना है कि व्यवहारवाद के अनुसार ईश्वर सत्य है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से सान्त्वना और शान्ति मिलती है। अतः ईश्वर सत्य है।

किन्तु वह एक अनन्त और असीम ईश्वर को व्यर्थ समझते हैं। ऐसे ईश्वर से क्या लाभ जिस तक हमारी प्रार्थना ही न पहुंच सके। उनके अनुसार ईश्वर एक यथार्थ सत्ता है, किन्तु उसका व्यक्तित्व परिमित है। निरपेक्ष चिद्‌वाद में यह दोष है कि वह एक अपरिमित सत्ता को मानता है जिसमें परिमित व्यक्तियों का अस्तित्व खो जाता है। ऐसे परमतत्त्व में अनेकत्व का कोई अस्तित्व ही नही रह जाता। ऐसे परमतत्त्व को जेम्स पिण्डक विश्व (block universe) कहते हैं।

यदि हम ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिशाली माने तो जगत् में अशुभ के लिए कोई स्थान नही रहता। किन्तु जगत् में अशुभ है इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः ईश्वर असीम, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिशाली नही है।

जेम्स के अनुसार ईश्वर एक परिमित व्यक्ति है। वह एक आदर्श और सर्वोच्च परिमित व्यक्ति है। उसमें परिमित मानव के साथ सहानुभूति और प्रेम है। वह मानव की प्रार्थना सुनता है और उसकी सहायता करता है। वह अशुभ को जगत् से निरस्त करना चाहता है और अपने इस अभियान में मानव का सहयोग चाहता है। ईश्वर की अशुभ पर विजय निश्चित है। मानव की ईश्वर के प्रति यही सेवा है कि वह ईश्वर के साथ इस महान कार्य में सहयोग करे।

विश्वास करने की समीहा (The Will to Believe)

कुछ तथ्य ऐसे है जिन्हें हम प्रत्यक्ष या तर्क द्वारा नही जान सकते, जैसे ईश्वर और अमरत्व। साइकिकल रिसर्च सोसायटी (Psychical Research Society) ने इन तथ्यों का जो अनुसन्धान किया है उससे इनके विषय में हमें ऐसा संकेत मिलता है जो इनके प्रति हमारे विश्वास को जागृत करता है। इस विश्वास का व्यावहारिक (pragmatic) मूल्य है। ऐसा संसार जिसमें ईश्वर और अमरत्व का स्थान है उस संसार की अपेक्षा कही अधिक रहने के योग्य है जिसमें इनके लिए स्थान नहीं है। हमारे भीतर इनके प्रति श्रद्धा करने के लिए एक स्वाभाविक समीहा का उदय होता है। यतः ये तथ्य तर्क द्वारा नही सिद्ध किये जा सकते अतः इन तथ्यों की उपयोगिता को देखते हुए हमें इनमें विश्वास करने के लिए चेष्टा करनी चाहिए, समीहा को जागृत करना चाहिए। यह विश्वास करने की समीहा हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग है। जेम्स ने अपने इस मत को अपने *The Will to Believe and Other Essays* में बड़े उत्साह से प्रतिपादित किया है।

3 शिलर, 1864-1937
(Ferdinand Canning Scott Schiller)

यह आक्सफोर्ड और Los Angeles मे प्रोफेसर रहे। यह व्यवहारवादी थे, किन्तु इन्होंने अपने व्यवहारवाद को मानवतावाद कहा है। इनकी मुख्य पुस्तकें हैं *Riddles of the Sphinx Humanism Formal Logic Logic for Use*

सत्य का मानवतावादी या व्यवहारवादी सिद्धान्त

शिलर का कहना है कि दार्शनिको ने जो सत्य के सिद्धान्त बनाये है वे सब भ्रान्तिपूर्ण है। इन सभी सिद्धान्तो की उन्होंने तीव्र आलोचना की है जिसका साराश निम्नलिखित है

1 सत्य विभावना (judgement) और उपस्थापना (proposition) का धर्म है। इसके विरुद्ध शिलर का कहना है कि सत्य और असत्य तो अवबोधात्मक अनुसधान (cognitive inquiry) के अनुषग मात्र हैं। ये अनुसधान के सभी पक्षो के साथ लगे हुए हैं, केवल विभावना और उपस्थापना ही के साथ नही सम्बद्ध है। प्रत्यक्ष, पूर्वधारणा तथा अन्य समस्याओ के सबध मे भी सत्य और असत्य का प्रश्न उठाया जा सकता है। उपस्थापनाए सदा के लिए सत्य और असत्य नही होती। जिस समय कोई उपस्थापना प्रस्तुत की जाती है उसी समय सत्य और असत्य का प्रश्न उठता है। उपस्थापना अथवा विभावना का सत्य अथवा असत्य कोई शाश्वत धर्म नही है।

2 सत्य वस्तुस्थिति की पकड है। शिलर कहते हैं कि यह बहुत ही सामान्य धारणा है। एक असत्य विभावना भी वस्तुस्थिति के ज्ञान का दावा कर सकती है। जब तक पूरी सम्परीक्षा न हो जाय तब तक हम सत्य अथवा असत्य के विषय मे कोई मत निश्चित नही कर सकते।

3 सत्य चिन्तन की अनिवार्यता है। शिलर कहते हैं कि यह भी बिलकुल ठीक नहीं है। चिन्तन की अनिवार्यता की प्रतीति मनोवैज्ञानिक है, न्यायपरक (logical) नहीं है। जो भी अनिवार्यता कभी होती है वह सापेक्ष होती है, निरपेक्ष नही। हेतुमत् अनुमान (syllogism) मे भी निगमन की सच्चाई आधार वाक्यो (premisses) की सच्चाई पर आश्रित होती है।

4 सत्य स्वत सिद्ध धारणाओ पर प्रतिष्ठित होता है। शिलर कहते हैं कि कभी-कभी जो सत्य स्वत सिद्ध प्रतीत होता है वह बाद मे असत्य सिद्ध हो जाता है। स्वत सिद्धता भी अनिवार्यता की भाति मनोविज्ञानपरक है, न्यायपरक नही है।

5 वही सत्य है जो वस्तुस्थिति के अनुरूप हो। शिलर कहते हैं कि यदि अनु-

रूपता का अर्थ मानसिक अनुकृति है, तो यह बात नही मानी जा सकती। किसी प्रत्यय का कार्य वस्तुस्थिति की अनुकृति नही है। उसका कार्य है जीवन मे सफलता प्राप्त करना। यदि उस प्रत्यय से जीवन में सफलता प्राप्त होती है, तो वह सत्य है, यदि नही, तो असत्य है।

6. वही सत्य है जिसमें संगति (coherence) हो। शिलर कहते हैं कि बुद्धिवादी किसी तथ्य को उनके वास्तविक परिवेश से अलग कर लेता है और उसके विषय में मानसिक अवस्थाओं की पारस्परिक संगति जानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की सगति सत्य का मापदण्ड नही हो सकती।

7 सत्य मानवमन से निरपेक्ष है। शिलर कहते है कि कोई भी वात जो मानव के अनुभव और उद्देश्य से सर्वथा निरपेक्ष हो, वह मानवीय ज्ञान से अतीत हो जाती है। अतः वह जानी ही नही जा सकती। उसके विषय मे सत्य या असत्य कुछ भी कहना असम्भव है।

सत्य-असत्य की परिभाषा

सत्य के सभी प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन कर शिलर ने यह मत स्थापित किया कि सत्य और असत्य को मानव की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ से अलग रख कर हम नही जान सकते। मानव की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में ही हम सत्य-असत्य को समझ सकते हैं।

यदि कोई प्रत्यय या विश्वास जीवन की अभिवृद्धि मे सफल सिद्ध होता है, यदि सफलता की दृष्टि से वह सत्यापित होता है, तो वह सत्य है। यदि वह जीवन की अभिवृद्धि की दृष्टि से असफल सिद्ध होता है तो वह असत्य है। यत. शिलर ने ज्ञान, सत्य इत्यादि के विषय में मानव को केन्द्र मे रखा, अत उन्होने अपने दर्शन को मानवतावाद (humanism) घोषित किया।

सत्य-असत्य के निर्णय मे वह जेम्स से भी एक कदम आगे निकल गये। उनकी यह मान्यता थी कि जो प्रत्यय अथवा विश्वास एक व्यक्ति के लिए सत्य हो, सम्भव है वह दूसरे के लिए सत्य न हो। प्रत्येक मनुष्य अपना एक विशेष और निजी सत्य बनाता है। यत. मनुष्य समाज में रहता है, अत. प्राय जो प्रत्यय अथवा विश्वास एक व्यक्ति के लिए सफल तथा सत्य सिद्ध होता है वह औरो के लिए भी सत्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार एक व्यक्तिगत सत्य सामान्य रूप धारण कर लेता है। किन्तु यह सामान्य सत्य भी व्यावहारिक ही होता है। शिलर ग्रीस के दार्शनिक प्रोटागोरस की भांति यह मानते थे कि मनुष्य ही सभी पदार्थों का मानदण्ड है : "Man is the measure of all things."

व्यवहारवादी न्याय

शिलर ने अपने *Formal Logic* और *Logic for Use* में आकारनिष्ठ न्याय पर गहरा प्रहार किया है। वह पद (term), विभावना (judgement), और अनुमान (inference) सब का जैविक और मानसिक पर्यावरण में ही निरूपण करते हैं। जिसे हम स्वयंसिद्ध तथ्य (axiom) कहते हैं वह किसी पूर्वधारणा (postulate) मात्र का रूप रहा होगा। जीवन में हमें उससे सफलता मिली है। इसलिए हम उसे स्वयंसिद्ध तथ्य मान लेते हैं।

पद (term) का प्रयोक्ता से निरपेक्ष अपना कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। प्रयोक्ता और परिस्थिति के अनुसार ही किसी पद का अर्थ निश्चित किया जाता है।

इसी प्रकार जब किन्ही विशेष परिस्थितियों में कोई समस्या उपस्थित होती है तब मनुष्य विचार करके कोई विभावना (judgement) बनाता है। कोई भी विभावना अन्तिम नहीं होती। परिस्थिति के बदलने पर विभावना भी बदल जाती है।

अनुमान (inference) भी किसी समस्या को हल करने के लिए, किसी उद्देश्य से ही किया जाता है। अनुमान के आधार वाक्य (premisses) अभ्युपगम या प्राक्कल्पना (hypothesis) मात्र होते हैं और उनका निगमन प्रयोग और सफलता द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। आकारनिष्ठ न्याय का नितान्त निश्चय का आदर्श व्यर्थ है।

जहा तक उदगमनात्मक अनुमान (inductive inference) का प्रश्न है यह सभी मानते है कि उसकी प्रकृति प्रयोगात्मक है जो कि व्यवहारवाद को मान्य है।

सद्वस्तु का सिद्धान्त (Theory of Reality)

हम यह देख चुके हैं कि सद्वस्तु (reality) के विषय मे जेम्स का सिद्धान्त यथार्थवादी था। किन्तु वह यह नहीं मानते थे कि हमारा सद्वस्तु का ज्ञान उसकी अनुकृति मात्र है। वह यह कहते थे कि सद्वस्तु के ज्ञान में हमारी अभिरुचि और समीहा का बडा योगदान होता है। वह कहा करते थे कि प्रत्यक्ष से तो हमें कोरा पत्थर मात्र मिलता है। उससे प्रतिमा तो हम निर्माण करते हैं। सत् हमें बना-बनाया नहीं मिलता। वह हमारे द्वारा बनाया जाता है।

शिलर के मानवतावाद ने इसी मत का विस्तार किया है। वह यह मानते है कि हमें प्रकृति के द्वारा सम्भाव्यता तो अवश्य मिलती है, किन्तु मानव का मन उसको वास्तविकता में परिणत करता है। शिलर यह कहते थे कि मानवतावाद चिद्वाद (idealism) और यथार्थवाद (realism) के बीच मध्यस्थ का काम करता है।

सत् और ज्ञान परस्पर सहसंबद्ध हैं। सद्वस्तु हमारे ज्ञान के निरपेक्ष है सही, किन्तु उसकी जानकारी में हमारे ज्ञान का योगदान होता है। हाँ, व्यवहारवाद अनुभव से अतीत प्रागनुभविक प्रनियमों को नहीं मानता।

व्यवहारवाद और नैतिक आचार

व्यवहारवाद के अनुसार नैतिक आचार की जीवन में प्रधानता है। व्यवहारवाद का यह सिद्धांत है कि नैतिक समस्याओं का हल कुछ मूलभूत प्रागनुभविक नियमों के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। उनका हल उनके व्यावहारिक परिणामों को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। व्यवहारवाद न तो किसी अनुभवातीत इष्टत्व में और न किसी परमार्थ में विश्वास करता है। कोई भी इष्ट अपने आप में इष्ट नहीं है। उसकी सार्थकता उसके सम्भाव्य परिणामों द्वारा ही आँकी जा सकती है।

स्वतंत्र समीहा (free will) की समस्या को हल करने में जेम्स और शिलर दोनों व्यावहारिक मानदण्ड का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि केवल तर्क के आधार पर इस समस्या का हल असंभव है। किन्तु जब हम वास्तविकता पर ध्यान देते हैं तब पता चलता है कि स्वतंत्र समीहा को मानना ही अधिक हितकर है। हमारे भीतर एक स्वतः प्रेरित विश्वास है कि सब आचरण, सब क्रिया समीहा के द्वारा प्रेरित होती है। यदि हम किसी काम के लिए इच्छा करें तो कोई कारण नहीं है कि हम उसे न कर सकें। यदि हम स्वतंत्र समीहा को न मानें तो 'तव्य', 'चाहिए', 'करणीय' इत्यादि शब्द निरर्थक हो जायेंगे।

व्यवहारवाद न तो शुभवाद (optimism) में और न दुःखवाद (pessimism) में विश्वास करता है। वह उन्नयनवाद (meliorism) में विश्वास करता है।

व्यवहारवाद और धर्म

बुद्धिवादी कहते हैं कि सृष्टि में उद्देश्य की परिकल्पना, ईश्वर और अमरत्व का विश्वास तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः इस प्रकार का विश्वास व्यर्थ है। व्यवहारवादी कहता है, आग लगे तुम्हारे तर्क को। सृष्टि में उद्देश्य की परिकल्पना, ईश्वर और अमरत्व में विश्वास जीवन के लिए, व्यवहार के लिए हितकर है। बस यह कल्याणकारिता अथवा हितकारिता इनमें विश्वास के लिए पर्याप्त है। और चाहिए क्या? श्रद्धा जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। संशयवाद और अज्ञेयवाद निरर्थक शुष्क तर्क के परिणाम हैं। संशयवादी भी बिना श्रद्धा के जीवित नहीं रह सकता। श्वास-प्रक्रिया, भोजन की पौष्टिकता इत्यादि में जीवित रहने के लिए उसे विश्वास करना ही पड़ता है। क्या वह पहले तर्क से सिद्ध करके सांस लेता अथवा खाता है?

शिलर का कहना है कि स्वयं तर्कवाद श्रद्धा पर प्रतिष्ठित है। तर्कवादी

यह कैसे जानता है कि विश्व युक्तिमूलक है, न्यायानुरूप है। पहले उसे विश्वास होता है कि विश्व न्यायानुरूप है, तर्कसगत है तभी वह तर्क ढूढता है।

ईश्वर और अमरत्व मे विश्वास जीवन के लिए हितकर और कल्याणप्रद है। बस इसी से धर्म को अगीकार करना चाहिए।

भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार ईश्वर की अवधारणा भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसमे कोई हानि नही है किन्तु ईश्वर मे विश्वास आवश्यक है, क्योकि बिना इसके जीवन ही अपूर्ण, अस्वस्थ और नैराश्यपूर्ण हो जाता है।

4 जान ड्यूई, 1859-1952
(John Dewy)

यह कई वर्ष तक कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे दर्शन के प्रोफेसर रहे। यह अमेरिका के प्रख्यात दार्शनिक हुए है। इनकी बहुमुखी प्रतिभा थी। इन्होने ज्ञानमीमासा, न्याय, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र इत्यादि विषयो पर ग्रन्थ लिखे हैं। इनके मुख्य ग्रथ निम्नलिखित है *Psychology*, 1886 *Outlines of Ethics*, 1891, *Studies in Logical Theory*, 1903, *How We Think*, 1910, *Influence of Darwin on German Philosophy*, 1910, *Democracy and Education*, 1916 *Essays in Experimental Logic*, 1916 *Reconstruction in Philosophy*, 1920, *Human Nature and Conduct*, 1922, *Experience and Nature*, 1925 *The Quest for Certainty*, 1929 *Art as Experience*, 1933 *Logic, The Theory of Inquiry*, 1939

ड्यूई के विचारो की पृष्ठभूमि

ड्यूई के विचार अधिकतर जैवशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र से प्रभावित हुए हैं। ड्यूई के विचारो पर डार्विन का विशेष प्रभाव था। उनके प्रभाव से वह यह मानते थे कि जगत् अपरिवर्तनीय (immutable) योनियों की समष्टि नही है। यह गतिशील है और उसकी योनियो मे परिवर्तन होता रहता है। दूसरे, डार्विन के प्रभाव से वह यह मानते थे कि चित्त की प्रक्रियाओ की व्याख्या जीव के अपने परिवेश के साथ समाभियोजन की दृष्टि से करनी चाहिए। वह इस सिद्धान्त पर पहुचे कि चिन्तन जीवन के साधन या उपकरण के रूप मे ही होता है। उसका कार्य निरपेक्ष सत्य-असत्य का निरूपण और सत् का वर्णन नही है।

पर्स और जेम्स के व्यवहारवाद का भी उनके ऊपर पर्याप्त प्रभाव था। उनके विचारो म जो अर्थ की प्रायोगिक (experimental) अवधारणा की प्रधानता दिखलायी देती है वह व्यवहारवाद के ही प्रभाव का परिणाम है।

मन का प्रतीकात्मक कार्य

पर्स की यह स्थापना थी कि चिन्तन का कार्य घटनाओं का प्रतीकात्मक (symbolic) वर्णन है। इसका ड्यूई पर बहुत प्रभाव था। ड्यूई ने इस सिद्धान्त का पद-पद पर प्रतिपादन किया है कि मन प्रतीकात्मक रूप से ही कार्य करता है। ड्यूई के अनुसार मन दो प्रकार से कार्य करता है: (1) जीव के परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया के कारण उठने वाली समस्याओं को हल करने के साधन या उपकरण के रूप में; (2) घटनाओं के प्रतीकात्मक निरूपण में।

ड्यूई का उपकरणवाद

प्रत्ययों का विशेष परिस्थिति से सम्बन्ध होता है। वे विशेष परिस्थितियों से निपटने के लिए उपकरण मात्र होते हैं। प्रत्येक प्रत्यय एक परिस्थिति विशेष के प्रति अनुक्रिया (response) होता है। यदि किसी परिस्थिति को हल करने में कोई प्रत्यय सफल होता है, तो वह प्रत्यय सत्य है। यदि वह असफल होता है, तो असत्य है। अनुभव के लिए प्रत्ययों का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक परिस्थिति के समय हमें अपने प्रत्ययों को उनकी सफलता अथवा असफलता द्वारा परखना होगा। यदि कोई प्रत्यय किसी परिस्थिति का पूर्णरूप से हल नहीं होता, तो हम उसे अभ्युपगम या प्राक्कल्पना मात्र कहते हैं।

ड्यूई ने बौद्धिक विश्लेषण और वैज्ञानिक विधि पर बहुत बल दिया है। किसी प्रत्यय का अर्थ निर्णयन सत्यापन (verification) के पश्चात् ही किया जा सकता है। सत्यापन वैज्ञानिक विधि है।

प्रत्यय भौतिक अथवा सामाजिक परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया से निष्पन्न होते हैं। उपकरणवाद के अनुसार तर्क के कुछ सामान्य नियम बनाये जाते हैं जिनके द्वारा दार्शनिक, वैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान किया जाता है। जिन साधनों से इन समस्याओं का समाधान होता है वे तर्क या न्याय (logic) कहलाते हैं।

किसी समय में मनुष्य जिसे तर्कसंगत समझता है वह उस समय के सामूहिक चिन्तन का परिणाम होता है। जो समाज सामूहिक चिन्तन करता है उसमें परिवर्तन होता रहता है। इसलिए किसी समाज में जो एक समय में सत्य समझा जाता है उसका स्वरूप केवल प्रयोगात्मक होता है। उसमें समय-समय पर परिशोधन और परिष्कार होता रहता है।

जो अतीत में सत्य और शुभ समझा जाता था वह यदि आज भी जीवन की समस्याओं के समाधान में सहायक होता है, तो सत्य और शुभ है। जो समस्याओं के समाधान में असफल होता है उसका परित्याग कर देना चाहिए। यदि फिर भी मोहवश हम उसी चिपटे रहें, तो वह एक निरर्थक रूढ़ि का रूप धारण कर लेता है

और साधक के स्थान पर बाधक बन जाता है।

ड्यूई के धर्म सम्बन्धी विचार

ड्यूई धर्म को केवल व्यक्ति का विषय नहीं मानते। वह उसे एक सामाजिक विषय मानते हैं। उन्होंने 'धर्म' और 'धार्मिक' में भेद किया है। धर्म तो वह है जो भिन्न भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न ग्रन्थों अथवा उपदेशकों द्वारा प्रचारित हुआ। इस प्रकार के प्रत्येक धर्म में विश्वास और पूजा अथवा साधना में भेद है। 'धार्मिक' अनुभव की एक विशेषता या गुणवत्ता है जो नैतिक, राजनीतिक, कलात्मक, वैज्ञानिक अनुभवों को रंग देती है, जो जीवन के व्यवहार में परिलक्षित होती है। 'धार्मिक' अनुभव की वह विशेषता जिसके सभी सहभागी हो सकते हैं, एक आदर्श उद्देश्य में विश्वास है, मानव की गरिमा और प्रयास में विश्वास है। ड्यूई के अनुसार 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक अनुषगों से अलग आदर्श और वास्तविकता की एकता के लिए करना चाहिए।

नैतिकता के सम्बन्ध में ड्यूई के विचार

नैतिक दर्शन मानव के लिए एक चरम इष्ट का प्रतिपादन करता है। ड्यूई का कहना है कि चरम इष्ट का ज्ञान सम्भव नहीं है। मानव को केवल विशेष साध्य के लिए विशेष साधन का ज्ञान हो सकता है। ऐसा सामाजिक व्यवहार के लिए सम्भव है। शुद्ध सामाजिक व्यवहार ही नैतिकता का उद्देश्य हो सकता है।

काण्ट ने 'विवक के निरक्षेप आदेश' (categorical impertive) का जो प्रतिपादन किया था उससे ड्यूई सहमत नहीं है। उनका कहना है कि हमें ऐसा इष्ट या लक्ष्य नहीं रखना चाहिए जिसकी प्राप्ति के लिए हमारे पास साधन नहीं है। साध्य को साधन से पृथक् नहीं किया जा सकता। इष्टत्व की विभावना तभी उपयुक्त हो सकती है जब साधन और साध्य दोनों का हम एक साथ विमर्श करें।

ड्यूई इष्ट अथवा 'मूल्य सिद्धात' और 'व्यवहार' में सामञ्जस्य स्थापित करने के पक्ष में थे। मूल्य की प्राप्ति के लिए लक्ष्य और साधन में सामञ्जस्य नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, समाज में सभी व्यवस्था स्थापित हो सकती है जबकि प्रत्येक व्यक्ति नैतिक हो।

तर्कवादी (rationalistic) और अनुभववादी (empiricist) दोनों के इष्ट या मूल्य के विषय के सिद्धात दोषपूर्ण हैं। तर्कवादी कुछ चुने हुए मूल्यों को बिना उनके सत्यापन के मान लेता है। अनुभववादी मूल्यों का निरूपण केवल अतीत को दृष्टि में रखकर भविष्य का बिना विचार किये हुए करता है। अत दोनों भ्रान्तिपूर्ण हैं। जीवन के अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों को ध्यान में रखकर मूल्यों का निरूपण करना चाहिए।

समीक्षा

पर्स ने वैज्ञानिक विधि और तार्किक विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। किन्तु उन्होंने इस बात पर ध्यान नही दिया कि वैज्ञानिक विधि से दर्शन की मूल-भूत समस्याओ का समाधान सम्भव नही है। वैज्ञानिक विधि मुख्यत विश्लेष-णात्मक होती है, किन्तु दर्शन मे सश्लेषणात्मक चिन्तन की अधिक आवश्यकता होती है।

उन्होने चिन्तन का एक नया मार्ग बतलाया और अमेरिका के चिन्तक उससे विशेष रूप से प्रभावित हुए, किन्तु वह विधि तत्त्वज्ञान के अनुसधान मे कोई विशेष योगदान न दे सकी।

जेम्स का व्यवहारवाद जनता का दर्शन कहा जाता है। उन्होने अनुभव और प्रत्ययो के सत्यापन पर पर्याप्त बल दिया। किन्तु वह दर्शन की मूल समस्याओ पर गहराई से विचार न कर सके। उनके व्यक्तित्व के तादात्म्य और ईश्वर सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण है। वह स्थायी आत्मा नही मानते। वह केवल चेतना का प्रवाह मानते हैं। एक विचार अस्त होते समय परवर्ती विचार मे सक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार विचारो मे एकत्व की भावना बनी रहती है। ह्यूम भी एक स्थायी आत्मा नही मानते थे। किन्तु जब तक हम एक स्थायी द्रष्टा अथवा आत्मा न मानें तब तक विचारो के प्रवाह को भी प्रवाह रूप से जानना तर्कसिद्ध न हो सकेगा। विचारो का समाकलन करने वाला एक स्थायी द्रष्टा का प्रत्यय अपरि-हार्य हो जाता है। दूसरे, एक स्थायी आत्मा को न मानने से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा सम्भव न हो सकेगी।

वह ईश्वर को एक परिमित व्यक्ति मानते है। उनके अनुसार ईश्वर की शक्ति भी परिमित है। वह स्वतन्त्र अशुभ से सघर्ष करता है और उसको पराजित करने का प्रयत्न करता है। अशुभ कोई स्वतत्र सत्ता नही है। उसका अस्तित्व मानव के दूषित विचार और कार्य मे है। अशुभ ईश्वर की एक तुल्य और विरोधी शक्ति नही है। ज्यो ज्यो मानव का विकास होगा त्यो त्यो अशुभ का ह्रास होता जायेगा। ईश्वर को परिमित मानने मे एक मानव-व्यक्ति और ईश्वर मे अतर नही रह जाता। इस प्रकार से ईश्वर मनुष्य का एक सर्वधित सस्करण बन जाता है। शिलर का भी ईश्वर का प्रत्यय जेम्स से मिलता है। अत जो दोष जेम्स के चिन्तन मे है वही शिलर मे भी विद्यमान है। ड्यूई का तो ईश्वर मे विश्वास ही नही है। वह केवल आदर्श और वास्तव की एकता के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को मानने की रियायत कर सकते है।

ड्यूई का मुख्य योगदान नागरिकता की भावना को जागृत करने और उसके लिए समुचित शिक्षा मे रहा है। अन्य व्यवहारवादियो की भाति उन्होने भी प्रत्ययो के अर्थ को वैज्ञानिक विधि से निरूपण करने पर बल दिया है और अनुभव

को इन्द्रियजन्य माना है। यह अनुभव की एक संकुचित दृष्टि है। काण्ट बहुत पूर्व सिद्ध कर चुके थे कि अनुभव केवल इन्द्रियजन्य नहीं होता।

सभी व्यवहारवादियों में समान दोष यह है कि वे चेतना की विचारात्मक क्रियाशीलता को व्यावहारिक क्रियाशीलता के अधीन मानते हैं। चेतना केवल व्यवहारात्मक नहीं है, वह विचारात्मक भी है। व्यवहारवादियों का यह एक अच्छा योगदान रहा कि उन्होंने हमारे ध्यान को चेतना के व्यावहारिक पक्ष की ओर आकृष्ट किया, किन्तु विचार को नगण्य या गौण मानने में उनका दर्शन संकुचित हो गया। इस दृष्टि से तो तत्त्वज्ञान मीमांसा असम्भव हो जायेगी। व्यवहारवादी बिना किसी हिचक के कहते भी हैं कि न तो तत्त्वज्ञान सम्भव है और न मानव को उसकी आवश्यकता है।

व्यवहार को ही सत्य का मानदण्ड बनाने से व्यक्तिपरकता और अनेकत्ववाद का जन्म होता है। व्यवहारवादी कहता है कि सत्य वही है जो हमारे लिए व्यवहार में उपयोगी हो। परन्तु जो एक व्यक्ति के लिए उपयोगी हो, सम्भव है वह दूसरे के लिए अनुपयोगी हो। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति के लिए सत्य अलग हो जायेगा और उसकी वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जायेगी।

व्यक्तिपरकता (subjectivism) का परिणाम अनेकत्ववाद (pluralism) होता है, क्योंकि व्यक्तिपरकता के मानने से कोई ऐसा चरम सिद्धांत नहीं मिल सकता जो सब व्यक्तियों के लिए सामान्य हो। विलियम जेम्स और शिलर के दर्शन में तो अनेकत्ववाद ही प्रधान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

DEWEY, JOHN, *Reconstruction in Philosophy*
——, *Experience and Nature*
——, *The Quest for Certainty*
——, *The Theory of Inquiry*
JAMES, W *A Pluralistic Universe*
——, *Pragmatism*
——, *The Will to Believe and Other Essays in Popular Philosophy*
——, *Essays in Radical Empiricism.*
PEIRCE, C S, *The Grand Logic.*
——, *Chance Love and Logic*
SCHILLER F C, S, *Riddles of the Sphinx*
——, *Humanism*
——, *Logic for Use*

अध्याय 5

यथार्थवाद
(REALISM)

[यथार्थवाद की स्थापना, जॉन लॉक का बाह्यार्थानुमेयवाद अथवा प्रतिरूपवाद, नव्य यथार्थवाद—ब्रेन्तानो और माइनाग का यथार्थवाद पर प्रभाव, जी० ई० मूर, अव्यवहितत्व—प्रत्यक्ष या बोध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पदार्थ की निरपेक्षता या स्वतन्त्रता, दर्शनशास्त्र और भाषा विश्लेषण, अमरीकी नव्य यथार्थवाद, नव्य यथार्थवाद की समीक्षा, समीक्षात्मक यथार्थवाद, बर्ट्रेण्डरसल का यथार्थवाद—दृश्य पदार्थ और ऐन्द्रिय पुरस्करण, परमतत्त्व, समीक्षा।]

यथार्थवाद (realism) तत्त्वदर्शन (metaphysics) और ज्ञानमीमासा (epistemology) मे दो भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। तत्त्वदर्शन मे यथार्थवाद का यह अर्थ है कि सामान्य की सत्ता विशेष से पूर्व और स्वतन्त्र है। वह विशेष से भी अधिक सत्य है। इन सामान्यो की सत्ता भागवती चेतना मे है और जगत् के सभी विशेष इन सामान्यो की अपूर्ण प्रतिकृति या प्रतिरूप मात्र हैं। इन सामान्यो की अपनी ही सत्ता और यथार्थता है। ग्रीस के दार्शनिक प्लेटो ने इसी अर्थ मे यथार्थवाद का प्रयोग किया है।

इसके विरुद्ध नामवाद (nominalism) था जो यह मानता था कि विशेष की ही सत्ता है। सामान्य की अपनी कोई सत्ता नही है। केवल नाम सामान्य होता है।

प्रत्ययवाद (conceptualism) ने इन दोनो के बीच का मार्ग अवलम्बन किया। इसके अनुसार एक मानसिक प्रत्यय है जो विशेषो मे व्याप्त रहता है, किन्तु जिसकी विशेषो से अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नही होती।

आधुनिक यथार्थवाद की समस्या यह है कि ज्ञेय या प्रत्यक्ष पदार्थ ज्ञाता के चित्त पर आश्रित है या चित्त से सर्वथा पृथक् उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। यदि पदार्थ

ज्ञाता के चित्त पर आश्रित है या उसके चित्त में एक प्रत्यय मात्र है, तो इस स्थापना को ज्ञान-सम्बन्धी चिद्वाद (epistemological idealism) कहते हैं। यदि यह माना जाता है कि पदार्थ ज्ञाता या चित्त से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है तो इसे ज्ञान सम्बन्धी यथार्थवाद (epistemological realism) कहते हैं। आधुनिक यथार्थवाद इसी प्रकार का यथार्थवाद है।

तात्त्विक चिद्वाद (metaphysical idealism) का प्रश्न दूसरा है। वह इस प्रश्न को लेकर चलता है कि चरम सत् का स्वभाव क्या है। भौतिकवाद यह मानता है कि भूतवस्तु ही चरम सत् है। इसके विपरीत चिद्वाद यह मानता है कि चरम सत् चेतसिक है। यह तात्त्विक चिद्वाद है। आधुनिक यथार्थवाद का तात्त्विक चिद्वाद से विरोध हो सकता है और नहीं भी हो सकता, किन्तु आधुनिक यथार्थवाद का ज्ञान-सम्बन्धी चिद्वाद से सर्वथा विरोध है।

यथार्थवाद की स्थापना

जब हम यह कहते हैं कि हमें अमुक पदार्थ का बोध या प्रत्यक्ष हो रहा है तो इसका अर्थ यही है कि वह पदार्थ जिसका प्रत्यक्ष या बोध हो रहा है उस चित्त से सर्वथा भिन्न है जिसके द्वारा उसका बोध हो रहा है। पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। चित्त द्वारा जब उसका बोध होता है तब वह चैत्य नहीं बन जाता। बोध में पदार्थ की सत्ता नष्ट नहीं हो जाती। बोध केवल एक मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है। कोई उसका बोध करे या न करे, पदार्थ की वास्तविकता वैसी की वैसी ही बनी रहती है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। न तो जानने की क्रिया में पदार्थ का स्वरूप बदलता है, न उसकी सत्ता ज्ञाता की मानसिक क्रिया पर आश्रित है। वह जैसा है वैसा है और वैसा ही सदा रहेगा चाहे उसे कोई जाने या न जाने। प्रत्यक्ष या बोध किसी विषय या पदार्थ का होता है जो कि प्रत्यक्ष करने या बोध करने की मानसिक क्रिया से भिन्न है।

जिसे हम आलोचन (sensation) कहते हैं वह केवल विषय जानने की प्रक्रिया है, विषय नहीं है। चेतना का यह स्वभाव ही है कि वह अपने से भिन्न किसी पदार्थ या विषय से सम्बद्ध होती है। चैतसिक या मानसिक क्रिया का विषय मानसिक क्रिया का अंग या अंश नहीं है। वह मानसिक क्रिया से भिन्न है।

जॉन लॉक का बाह्यार्थानुमेयवाद अथवा प्रतिरूपवाद
(Representationism)

ब्रिटेन के दार्शनिक जान लॉक (1632-1704) यह मानते थे कि जगत् में जितने पदार्थ

हैं उनमें परिमाण (size), गति (motion), संख्या (number) और विस्तार या आयाम (extension) उनके मौलिक या मुख्य गुण (primary qualities) है। सक्षेप में देशविशेष की व्याप्तता उनका मौलिक गुण है। जब ये पदार्थ इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते है तो हमारे मानस पटल पर इनका प्रतिरूप (image) अंकित हो जाता है। हम ऋजु रूप से अपने भीतर अनुभूत प्रतिरूप या प्रतिच्छाया ही को जानते है, मूल पदार्थ को नही। इन प्रतिरूपो से हम यह अनुमान करते है कि इनका कारण कोई वाह्य पदार्थ है। सीधे रूप से हम वाह्य पदार्थ को नहीं जानते। वाह्य पदार्थ दृश्य नही है, अनुमेय है। साक्षात् रूप से दृश्य या उपलब्ध तो केवल अपने भीतर अनुभूत प्रतिरूप ही है। एक बात और भी है। रग, ताप, गंध इत्यादि तो वाह्य पदार्थ में बिलकुल नहीं है। यह सब बाह्य पदार्थ के प्रति हमारी प्रतिक्रिया है। इन गुणों को जॉन लॉक गौण गुण (secondary qualities) कहते है। ये गुण हमारे ही मन द्वारा उद्भूत है। फिर इन गुणों को चित्त वाह्य पदार्थ पर आरोपित कर लेता है। वाह्य पदार्थ का वोध मौलिक गुणों के प्रतिरूप और ज्ञाता में उदभूत गौण गुणो का मिश्रण है। प्रो० ह्वाइटहेड के शब्दों में लॉक के अनुसार प्रकृति शब्दहीन, गंधहीन और रंगहीन है। गुलाब को गंध के लिए, बुलबुल को गीत के लिए, सूर्य को प्रकाश के लिए जो यश मिलता है, वह वस्तुतः हमें मिलना चाहिए और कवियों को इनका गुणगान न करके मानव का ही गुणगान करना चाहिए।

लॉक के अनुसार मौलिक गुण पदार्थ में है, किन्तु गौण गुण चैत्य (चित्त-सम्बन्धी) है। आगे चलकर बर्कले ने यह सिद्ध किया कि मौलिक गुण भी चैत्य है और द्रव्य (substance) की, जिसमें मौलिक गुण रहते है, इन गुणों के अतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नही है।

यहां हमें केवल यही देखना है कि लॉक का वाह्यार्थानुमेयवाद या प्रतिरूपवाद प्राकृत यथार्थवाद (naive या natural realism) के विरुद्ध था। प्राकृत यथार्थवाद यह मानता है कि हमारे चित्त में वाह्य पदार्थ का पूर्णतः प्रतिरूप अंकित हो जाता है। लॉक ने यह सिद्ध किया कि वाह्य पदार्थ के मौलिक गुणों का प्रतिरूप तो जैसा का तैसा हमारे चित्त पर अंकित हो जाता है, किन्तु गौण गुणों का हमारा चित्त स्वयं सर्जन करता है।

प्राकृत यथार्थवाद यह समझता है कि हम वाह्य पदार्थ का यथार्थ रूप में, जैसा का तैसा, प्रत्यक्ष करते हैं। लॉक के अनुसार हम साक्षात् रूप से, अव्यवहित रूप में वाह्य पदार्थ के केवल प्रतिरूप का ही अनुभव करते हैं और प्रतिरूप के द्वारा व्यवहित रूप में (mediately) पदार्थ को जानते हैं। लॉक के अनुसार पदार्थ के बोध में तीन अंग हैं, ज्ञाता, प्रतिरूप (representation या idea) और ज्ञेय या पदार्थ।

नव्य यथार्थवाद

लॉक के मत का स्वाभाविक परिणाम हुआ स्वनिष्ठता (subjectivism) या स्वनिष्ठ चिद्वाद (subjective idealism) जिसके अनुसार ज्ञाता और उसके चेतसिक प्रत्यय की ही वास्तविक सत्ता है। प्रत्यय से भिन्न बाह्य पदार्थ की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है।

19वी और 20वी शती मे चिद्वाद का विभिन्न रूपो मे बोलबाला रहा। यथार्थवाद इसका विरोध करता रहा। किन्तु जर्मनी मे Franz Brentano (1838-1907) Alexius Meinong (1853-1921) और Edmund Husserl (1859-1938) ने साशयत्व (intentionality) का सिद्धान्त प्रतिपादन करना आरम्भ किया। इससे यथार्थवाद को विशेष बल मिला और वह नव्य यथार्थवाद के रूप मे खडा हुआ।

ब्रेन्तानो और माइनाग का नव्य यथार्थवादियो पर विशेष प्रभाव पडा। इनके साशयत्व के सिद्धान्त का यह अर्थ था कि चित्त की भौतिक पदार्थों से यह विलक्षणता है कि चित्त अपनी क्रिया मे, चिन्तन मे अपने से बाहर किसी विषय का सकेत करता है चाहे वह विषय वास्तविक हो या काल्पनिक। ब्रेन्तानो का कहना था कि मानसिक क्रिया का अर्थ ही है वह क्रिया जिसका एक विषय (object) हो। बिना विषय के कोई चिन्तन या मानसिक क्रिया नही होती। अत ज्ञान या चिन्तन के दो अग होते हैं (1) मानसिक क्रिया, (2) कोई विषय जिसका वह मानसिक क्रिया निर्देश करती है अथवा जिसके प्रति उसका आशय होता है।

माइनाग ने अपने दर्शन को नाम ही दिया 'The Theory of Objects' अर्थात् 'विषय का सिद्धान्त'। इस सिद्धान्त के अनुसार विषय वह है जिसको चिन्तन-क्रिया निर्देश करती या सोचती है। इसके अनुसार केवल भौतिक पदाथ जिनका अस्तित्व (exist) है चिन्तन क्रिया के विषय नही है वे भी चिन्तन क्रिया के विषय है जिनकी देश-काल से रहित केवल भाव रूप मे स्थिति (subsist) है, उदाहरणार्थ, विचारजन्य सत्त्व (essences), गुण (quality) सख्या (number), उपस्थापनाए (propositions), परस्पर विरोधी भाव भी जैसे, गोल समकोण चतुर्भुज (round square)। माइनाग ने चिन्तन क्रिया के विषय (object) और अन्तर्वस्तु (content) में भी भेद किया है। चिन्तन क्रिया (act) के समान अन्तर्वस्तु (content) भी चित्त मे ही रहती है। क्रिया के समान अन्तर्वस्तु भी मानसिक है और विद्यमान होती है। किन्तु यदि किसी भाव के प्रति मानसिक क्रिया का निर्देश अथवा सरत हो, तो वह विषय (object) हो सकता है चाहे वह अविद्यमान या अस्तित्वहीन हो। इस प्रकार माइनाग के अनुसार ज्ञान के तीन अग हैं मानसिक क्रिया (act), अन्तर्वस्तु (content) और विषय (object)।

माइनाग के अनुसार अनुभव स्वतंत्र भावरूप में स्थित अर्थात् आत्मसत् (subsistent) और अस्तित्ववान् (existent) विषयों (objects) का बोध (awareness) है।

जर्मनी के उक्त विद्वानों की चिन्तन प्रक्रिया यथार्थवादियों के हाथ में एक नया अस्त्र बन गयी और इस प्रकार नव्य यथार्थवाद का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ नव्य यथार्थवादी ब्रिटेन में हुए, कुछ अमेरिका में। इन दोनों देशों के मुख्य यथार्थवादियों के सिद्धान्त आगे दिये जा रहे हैं।

जी० ई० मूर, 1873-1958
(George Edward Moore)

यह केम्ब्रिज में mental philosophy और logic के प्रोफेसर थे और Mind पत्र के सम्पादक थे। यह ब्रिटेन के मुख्य नव्य यथार्थवादी थे।

मूर के यथार्थवाद की स्थापना निम्नलिखित तर्कों पर प्रतिष्ठित है :

1. अव्यवहितत्व (immediacy)—लॉक ने पदार्थ के प्रत्यक्ष या बोध में तीन अंग माने हैं : (क) ज्ञाता, (ख) पदार्थ का चित्त में प्रतिरूप या प्रत्यय, (ग) ज्ञेय या पदार्थ। इस दृष्टि के अनुसार हमें पदार्थ का व्यवहितात्मक (mediate) या प्रतिरूपात्मक (representational) ज्ञान होता है।

मूर का कहना है कि प्रत्यक्ष या ज्ञान के तीन अंग नहीं हैं, केवल दो ही हैं : (क) ज्ञाता, (ख) ज्ञेय या पदार्थ। प्रत्यय तो हमारे भीतर की मानसिक क्रिया है। यह कोई वस्तु सम्बन्धी स्थिति नहीं है। जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं, तो हमें उस पदार्थ का तात्कालिक ज्ञान हो जाता है, हमारे भीतर कुछ भी मानसिक क्रिया हुआ करे। जहा तक पदार्थ के ज्ञान का सम्बन्ध है, वह ऋजु है, अव्यवहित, तात्कालिक है। वह पदार्थ का स्वरूपात्मक (presentational) ज्ञान है, प्रतिरूपात्मक (representational) ज्ञान नहीं है।

2. प्रत्यक्ष या बोध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—जर्मनी के दार्शनिक ब्रेन्तानो का यह मत था कि प्रत्यक्ष या बोध में केवल दो ही अंग होते हैं : (क) बोध की मानसिक क्रिया, (ख) विषय या पदार्थ जिसका बोध हो रहा है। इसका प्रभाव मूर पर बहुत पड़ा। उन्होंने इसके आधार पर पर्याप्त चिन्तन करके *Refutation of Idealism* (चिद्वाद का खण्डन) नामक निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया कि बोध की मानसिक क्रिया किसी न किसी पदार्थ का संकेत करती है जो कि उस मानसिक क्रिया से भिन्न है।

लॉक का बाह्यार्थानुमेयवाद या प्रतिरूपवाद नव्य यथार्थवाद को मान्य नहीं है। बर्कले का स्वनिष्ठ चिद्वाद (subjective idealism) तो नव्य यथार्थवाद को

सर्वथा अमान्य है। बर्कले जैसे चिद्वादियो का तर्क इस प्रकार है

(क) आलोचन (sensation) या प्रत्यय (ideas) चित्त से अलग नही रह सकते।

(ख) पदार्थ का जब बोध होता है तो निस्सन्देह वे आलोचन या प्रत्यय ही होते है।

(ग) अत पदार्थ चित्त से अलग कोई वस्तु नही है।

मूर इत्यादि विद्वानो ने दिखाया है कि इस तर्क मे जो सत्य का आभास होता है उसका मूल कारण है आलोचन या प्रत्यय शब्द की द्वयर्थता (ambiguity)। पहले वाक्य मे आलोचन या प्रत्यय शब्द का अर्थ है प्रत्यक्ष या प्रत्यय की मानसिक क्रिया। दूसरे वाक्य मे आलोचन या प्रत्यय का अर्थ है मानसिक क्रिया का विषय जिसका प्रत्यक्ष या बोध हो रहा है। अत इस तर्क मे द्वयर्थक हेतु दोष (ambiguous middle) है। निस्सन्देह प्रत्यक्ष या प्रत्यय की मानसिक क्रिया चित्त से अलग नही की जा सकती, किन्तु प्रत्यक्ष या प्रत्यय का विषय तो चित्त से भिन्न रह ही सकता है। इसीलिए मूर ने कहा—प्रत्येक आलोचन (sensation) मे दो भिन्न तत्त्व है—एक आलोचन जो कि मानसिक क्रिया है और दूसरा उस आलोचन का विषय।

3 पदार्थ की निरपेक्षता या स्वतन्त्रता—पदार्थ की वास्तविकता किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पर आश्रित नही है। यह सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष या स्वतन्त्र है। पदार्थ की स्वतन्त्र रूप मे सत्ता है, चाहे उसका कोई प्रत्यक्ष करे या न करे। जब यह सिद्ध हो गया कि प्रत्यक्ष रूपी मानसिक क्रिया और प्रत्यक्ष का विषय दो भिन्न बातें हैं, तो यह स्पष्ट हो गया कि पदार्थ चित्त से भिन्न है और उसकी निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है।

चिद्वादियो का यह कहना है कि कोई भी अपने प्रत्ययो के घेरे के बाहर नही निकल सकता। हम ऋजु रूप से केवल अपने प्रत्ययो को जानते हैं। मूर का उत्तर है कि यह बिलकुल भ्रात धारणा है। जब कोई शेर देखता है तो वह कभी यह नही समझता कि शेर केवल मेरे चित्त मे एक प्रत्यय अथवा प्रतिरूप है, किन्तु तत्काल वह चित्त के बाहर एक भयकर पशु का प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष करना ही चेतसिक घेरे के बाहर निकल जाना है।

अत बर्कले का यह कहना है कि 'प्रयत्क्षमेवास्तित्वम्' (esse est percipi)—किसी वस्तु का अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष मे ही है—भ्रात है। किसी वस्तु का अस्तित्व उसके प्रत्यक्षत्व या बोध स सर्वथा भिन्न, निरपेक्ष और स्वतन्त्र होता है।

मूर की यह स्थापना थी कि ऐन्द्रिय पुरस्करण (sense data या sensa) हमारे चित्त का अश नही है। वह वास्तविक पदार्थ का मानसिक प्रतिरूप नही है। वह पदार्थ ही है, या कम स कम उसी का एक अश है। ऐन्द्रिय पुरस्करण आलोचना (sensation) से भिन्न है और दृष्ट पदार्थ से अभिन्न है। यह ज्ञान और ज्ञेय, दर्शन और दृश्य म अभिन्नता (epistemological monism) मानते है। यह

ज्ञान के सम्बन्ध में माइनांग का ज्ञानक्रिया, अन्तर्वस्तु और विषय का त्रिक सिद्धान्त नही मानते। वह यही मानते है कि ज्ञानक्रिया, सीधे ज्ञेय का, विषय का, ग्रहण करती है। ज्ञान-क्रिया और ज्ञेय के बीच वह किसी स्थिति को नही स्वीकार करते। किसी पदार्थ में ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो दृश्यगुण (sense data) पुरस्कृत होते है उन्हें भी वह पदार्थ का ही अश मानते है, ज्ञान का नही।

दर्शनशास्त्र और भाषा-विश्लेषण—भाषा-विश्लेषण के क्षेत्र में भी मूर ने प्रशंसनीय कार्य किया है। मूर का यह विश्वास है कि दर्शनशास्त्र परमतत्त्व को नही जान सकता। दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य यह होना चाहिए कि जो कुछ ज्ञान विज्ञान तथा अन्य शास्त्रों द्वारा हमे प्राप्त हुआ है उसका स्पष्टीकरण करे। इसके लिए दर्शन को विश्लेषण और भाषा-सम्बन्धी विवेचन के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

मूर ने दर्शन के क्षेत्र में विश्लेषण का कार्य प्रारम्भ किया और इस प्रकार दार्शनिक विश्लेषण (philosophical analysis) का सूत्रपात हुआ। उनके इस सिद्धान्त का तार्किक निश्चितवाद (logical positivism) पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

अमरीकी नव्य यथार्थवाद

अमेरिका में नव्य यथार्थवाद के पोषक हुए है होल्ट, मार्विन, माण्टगू, पेरी, पिटकिन और स्पाल्डिंग। इन लोगो ने मिलकर 1912 मे *The New Realism* नामक पुस्तक मे अपने मत व्यक्त किये।

ये सब दार्शनिक ज्ञान और ज्ञेय, दर्शन और दृश्य, प्रत्यक्ष और पदार्थ में अभिन्नता (epistemological monism) मानते है। इनका मत है कि ज्ञात या दृष्ट पदार्थ और वास्तविक पदार्थ एक ही है, भिन्न नही है।

ब्रिटेन के नव्य यथार्थवादियो के तर्कों के अतिरिक्त अमेरिका के यथार्थवादियो ने और भी तर्क उपस्थापित किये जिनमें मुख्य निम्नलिखित है :

1. आत्मकेन्द्रीय दुःस्थिति के आधार पर दोषपूर्ण तर्क—अमेरिका के दार्शनिक आर०बी०पेरी (R B Perry) ने चिद्वादी के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया कि यदि कोई व्यक्ति यह जानना चाहता है कि किसी पदार्थ या विषय का अस्तित्व है या नही तो वह बिना उस पदार्थ का अपने से सम्बन्ध जोड़े उसके अस्तित्व या नास्तित्व के विषय मे कुछ जान ही नही सकता। ज्ञान की ऐसी ही स्थिति है कि बिना अपने से, 'स्व' से, 'आत्मा' से, 'ज्ञाता' से सम्बन्ध जोड़े कुछ भी नही जाना जा सकता। चिद्वादी इस दुःस्थिति का अनुचित लाभ उठाता है और यह कहता है कि जिसका प्रत्यय नही होता उसका अस्तित्व ही नही है।

पेरी के मत मे यह दोषपूर्ण तर्क है और इस दोष का नाम उन्होंने 'आत्मकेन्द्रीय दुःस्थिति' रखा है। चिद्वादी का मत केवल अन्वयात्मक दृष्टान्तों (positive

instances) पर आश्रित है। उसका मत तब तक ठीक नही समझा जा सकता जब तक कि कुछ ऐसे दृष्टान्त न मिले जिनमे कि जिन पदार्थों को ज्ञाता नहीं जानता उनका अस्तित्व ही नही है। किन्तु आत्मकेन्द्रीय दु स्थिति के कारण ऐसा दृष्टान्त मिलना सम्भव नही है। किन्तु बिना व्यतिरेकी दृष्टान्तो (negative instances) के मिले चिद्वादी की स्थापना उपयुक्त नही मानी जा सकती।

2 ज्ञातृ-ज्ञेय सम्बन्ध विषय या पदार्थ मे कोई परिवर्तन नही कर सकता। यदि कोई पदार्थ ज्ञेय होता है, तो इसका यह अर्थ नही है कि वह चेतसिक हो गया, अपने लक्षण का परित्याग कर वह चैत्य बन गया। ज्ञेय होने पर उसमे कोई परिवर्तन नही होता। अत उसकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है।

3 चिद्वादी यह मानते हैं कि सब सम्बन्ध आन्तरिक है और वस्तु का स्वरूप सम्बन्धात्मक है। यथार्थवादी इस सिद्धान्त को नही मानते। उनका कहना है कि सम्बन्धो से स्वरूप की केवल अभिव्यक्ति होती है, न कि उसका निर्धारण। वस्तु की स्थिति के बिना सम्बन्धो का होना सम्भव नही है। पदार्थ की सत्ता सम्बन्धो से पहले होती है। अत पदार्थ या ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता से सम्बद्ध होने के पहले ही होती है। ज्ञान ज्ञेय को प्रभावित या विकृत नही कर सकता।

सम्बन्ध आन्तरिक नही, बाह्य होते हैं। एक वस्तु का अन्य वस्तुओ से विभिन्न प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। इन सम्बन्धो से वह विकृत नही होता।

सम्बन्ध बाह्य नही, प्रत्युत वास्तविक होते हैं। यदि हम कहते हैं कि राम श्याम से बडा है, तो बडा होना—यह सम्बन्ध उतना ही वास्तविक है जितना राम और श्याम। इसलिए सत् विभिन्न और विविध है।

चिद्वादियो की तरह यथार्थवादी विश्व को एक व्यवस्थित सहति नही मानता। हम यह भी नही कह सकते कि विश्व मे जड, चेतन दो ही पदार्थ है। सभी प्रकार के प्रत्यय—देश, काल, तार्किक प्रनियम, नैतिक आदर्श सत्य हैं। यह हो सकता है कि कुछ अस्तित्वमान (existent) हो और कुछ आत्मसत् (subsistent) हो।

4 चिद्वादी यह कहते है कि विश्लेषणात्मक विधि (analytical method) से हम सत् को कभी जान ही नही सकते, क्योकि सत् एक सहति है। यथार्थवादियो का कहना है कि विश्लेषण, जिसके द्वारा हम किसी अगी के अगो या भागो को जानते है, ज्ञान की उतनी ही सच्ची विधि है जितनी कि सश्लेषण।

नव्य यथार्थवाद की समीक्षा

1 नव्य यथार्थवादियो ने आत्मकेन्द्रीय दु स्थिति दोष पर बहुत बल दिया है। उनका कहना है कि यत किसी पदार्थ के विषय मे बिना उसे ज्ञाता से सम्बद्ध किये हुए हम कुछ कह ही नही सकते अत चिद्वादी यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञान या चेतना के बिना किसी पदार्थ की सत्ता ही नही है। यथार्थवादी ने इसका नाम

आत्मकेन्द्रीय दु:स्थिति दोष रखा है किन्तु इस दु:स्थिति का एक पक्ष और है जो कि यथार्थवादी भूल जाता है। जब कभी कोई चिन्तन करता है तो उसके चिन्तन का अवश्य कोई न कोई विषय होता है। यथार्थवादी इस दु:स्थिति का लाभ उठाता है और यह प्रतिपादित करता है कि यतः बिना किसी पदार्थ या विषय के कुछ कहा या सोचा ही नहीं जा सकता अत: पदार्थ या विषय की ही वास्तविक सत्ता है, चेतना की नहीं। यदि चिद्वादी आत्मकेन्द्रीय दु:स्थिति दोष का भागी है, तो यथार्थवादी विषयकेन्द्रीय दु:स्थिति दोष का भागी है।

2. सामान्य ज्ञानात्मक यथार्थवादी (common sense realism) तो यही मानता है कि प्रत्यक्ष पदार्थ की तो एक देश-काल में सत्ता है और कल्पित पदार्थों की भिन्न सत्ता है, किन्तु नव्य यथार्थवाद प्रत्यक्ष पदार्थ, कल्पित पदार्थ, अज्ञात पदार्थ, सम्बन्ध—सबको एक ही स्तर पर रख देता है। इस प्रकार का मत न तो साधारण जन को सन्तुष्ट कर सकता है, न ज्ञानी को।

3. नव्य यथार्थवादी यह मानता है कि चित्त वस्तु का सीधे तौर से, ऋजुरूप से, प्रत्यक्ष करता है, उसकी अपनी कोई क्रियाशीलता नहीं होती। वस्तु जैसी है वैसी ही वह चित्रित कर देता है। पदार्थ और चित्त के बीच कोई व्यवधान नहीं है। इस मत के कारण नव्य यथार्थवाद के लिए प्रत्यक्ष सम्बन्धी भ्रान्तियों तथा अध्यास (illusion), निरालम्ब प्रत्यक्ष (hallucination) इत्यादि का स्पष्टीकरण असम्भव हो जाता है। जब हम मरीचितोय (mirage) का भान करते हैं तो नव्य यथार्थवाद के अनुसार जगत् में, वास्तव में, कोई मरीचितोय होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। भ्रान्त प्रत्यक्ष एक ऐसा कठोर सत्य है कि इसके आगे नव्य यथार्थवाद के सारे तर्क छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

समीक्षात्मक यथार्थवाद
(Critical Realism)

भ्रान्त प्रत्यक्ष की समस्या ने यथार्थवाद को अपनी स्थापनाओं पर पुनः विचार करने के लिए विवश किया और इस प्रकार समीक्षात्मक यथार्थवाद का सूत्रपात हुआ। इसे यथार्थवाद इसलिए कहते हैं कि यह स्वनिष्ठतावादी (subjectivism) के विरुद्ध है। यह इस बात को नहीं मानता कि जो कुछ सत्ता है वह चित्त मात्र की है। इसकी धारणा यह है कि चित्त सदा किसी विषय या बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष या बोध करता है। किन्तु इस यथार्थवाद को समीक्षात्मक इसलिए कहते हैं कि यह प्रकृत यथार्थवाद, सामान्यज्ञानात्मक यथार्थवाद और नव्य यथार्थवाद की भाँति यह नहीं मानता कि प्रत्यक्ष में हम ऋजु रूप से पदार्थ को जानते हैं।

मूर ऐन्द्रिय पुरस्करण (sense data or sensa) को भौतिक पदार्थ का ही अंग

मानते हैं। वह ज्ञान सम्बन्धी ऐक्य (ideological monism) के प्रतिपादक थे। वह यह मानते थे कि ज्ञान और ज्ञेय का, दर्शन और दृश्य का ऐक्य है। किन्तु समीक्षात्मक यथार्थवाद लॉक की भांति ज्ञान स्थिति के तीन अग मानता है (1) चित्त, (2) ऐन्द्रिय पुरस्करण (sense data or sensa) और 3 बाह्य पदार्थ। नव्य यथार्थवादी के समान समीक्षात्मक यथार्थवादी ऐन्द्रिय पुरस्करण को बाह्य पदार्थ का अग नही मानता।

नव्य यथार्थवादी ज्ञान सम्बन्धी ऐक्य (ideological monism) का प्रतिपादक है। समीक्षात्मक यथार्थवादी ज्ञान सम्बन्धी द्वैत (ideological dualism) का प्रतिपादक है। समीक्षात्मक यथार्थवादी यह नही मानता कि हम प्रत्यक्ष या ज्ञान के द्वारा सीधे विषय को जानते हैं। वह यही मानता है कि अव्यवहित या ऋजु रूप मे हम केवल ऐन्द्रिय पुरस्करण (sensa) को ही जानते हैं। इसके द्वारा हम बाह्य विषय का अनुमान करते हैं।

समीक्षात्मक यथार्थवादी के अनुसार न तो यह ऐन्द्रिय पुरस्करण मानसिक होता है न भौतिक। उसकी एक मध्य स्थिति होती है जिस वह यौक्तिक पदार्थ (logical entity) कहता है। उसके निर्माण मे ज्ञाता और ज्ञेय दोनो का हाथ रहता है। इसीलिए समीक्षार्थक यथार्थवादी इसे लक्षण-जाटिल्य (character complex) या 'सार' कहता है।

समीक्षात्मक यथार्थवाद के मुख्य प्रतिपादक ड्यूरण्ट ड्रेक (Durant Drake), आर्थर ओ० लवज्वाय (Arthur O Lovejoy), जे० बी० प्रैट (J B Pratt), ए० के० राजर्स (A K Rogers), जार्ज सन्टायना (George Santayana), राय वुड सेलर्स (Roy Wood Sellars) और सी० ए० स्ट्राग (C A Strong) हुए हैं।

बर्ट्रेण्ड रसल (Bertrand Russell) का यथार्थवाद

रसल का जन्म 1872 ई० शती म हुआ था। इन्होने दर्शन, गणित, समाजशास्त्र, राजनीति इत्यादि विषयो पर कई ग्रन्थ लिखे है। यह कई वर्षो तक केम्ब्रिज विश्वविद्यालय म दर्शन के लेक्चरर रहे।

यह बहुत स्वतत्र विचार के थे जिसके कारण इनको जेल भी जाना पडा। दर्शन सम्बन्धी इनके मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित है *The Philosophy of Leibniz*, 1900 *The Problems of Philosophy*, 1912 *Our Knowledge of the External World* 1914 *Introduction to Mathematical Philosophy*, 1918 *The Analysis of Mind* 1921 *The Analysis of Matter*, 1927, *An Outline of Philosophy* 1928, *An Inquiry into Meaning and Truth*, 1940

रसल पहले मूर के विचारों से बहुत प्रभावित थे। वह ज्ञान सम्बन्धी ऐक्य में विश्वास रखते थे। किन्तु बाद में उनके विचार बदल गये और वह ज्ञान सम्बन्धी द्वैत में विश्वास करने लगे। उनका यथार्थवाद समीक्षात्मक यथार्थवाद के पास आ गया। इसके बाद उनके विचारों में कुछ और अन्तर आया।

दृश्यपदार्थ और ऐन्द्रिय पुरस्करण

रसल की यह मान्यता थी कि जब हम किसी भौतिक दृश्य पदार्थ को देखते हैं तो एक तो द्रष्टा होता है, दूसरे उसका आलोचन (sensation) होता है, तीसरे कुछ ऐन्द्रिय पुरस्करण (sense data) होते हैं जैसे, रंग, गन्ध, शब्द, काठिन्य इत्यादि। आलोचन (sensation) ऐन्द्रिय पुरस्करण (sense data) से भिन्न होता है और ऐन्द्रिय पुरस्करण भौतिक पदार्थ से भिन्न होता है। आलोचन ऐन्द्रिय पुरस्करण का साक्षात्, अव्यवहित बोध होता है, दृश्य पदार्थ का नहीं। यदि हम एक मेज देखते हैं तो ऋजु रूप से हम उसके रंग, काठिन्य इत्यादि ऐन्द्रिय पुरस्करण का ही अनुभव करते हैं, मेज का नहीं। मेज तो हम केवल ऐन्द्रिय पुरस्करण के आधार पर अनुमान द्वारा जानते हैं। ऐन्द्रिय पुरस्करण के द्वारा मेज का वर्णन मात्र हो सकता है। साक्षात् ज्ञान तो हमें ऐन्द्रिय पुरस्करण का ही होता है। रसल ने ज्ञान के दो भेद किये हैं : (1) परिचयात्मक ज्ञान (knowledge by acquaintance) और (2) वर्णनात्मक ज्ञान (knowledge by description)। रसल की यही मान्यता थी कि हमें परिचयात्मक ज्ञान केवल ऐन्द्रिय पुरस्करण का होता है, दृश्य पदार्थ का तो हमें केवल वर्णनात्मक ज्ञान होता है। परिचयात्मक ज्ञान में कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती। वह तो स्वयसिद्ध होता है। जब हम उसके विषय में विभावना करने लग जाते हैं, तभी भ्रान्ति हो सकती है। आगे चलकर रसल कहते हैं कि ऐन्द्रिय पुरस्करण भौतिक पदार्थ का आभास (appearance) नहीं है, वह केवल पदार्थ को अभिव्यक्त करता है।

भौतिक पदार्थ एक-दो बार के देखने से नहीं जाने जा सकते। कई बार भिन्न-भिन्न सन्दर्शों (perspective) के द्वारा अवलोकन करने से हमें किसी भौतिक पदार्थ की जानकारी होती है। एक भौतिक पदार्थ भिन्न-भिन्न सन्दर्भों की संहति (system) है। ह्वाइटहेड के प्रभाव से वह भौतिक जगत् को एक अन्वीक्षात्मक निर्माण (logical construction) मानते थे।

परमतत्त्व

रसल के अनुसार परमतत्त्व न तो मानसिक है और न तो भौतिक। विलियम जेम्स ने तटस्थ सत्ता (neutral stuff) की कल्पना की थी। रसल ने उसका उपयोग किया है। उनका कहना है कि परमतत्त्व एक तटस्थ सत्ता है जो कि न

ता मानसिक कहा जा सकता है, और न भौतिक ही। इस प्रकार, उन्होंने तटस्थ एकतत्ववाद (neutral monism) का प्रतिपादन किया है। उनकी धारणा है कि मानसिक और भौतिक का भेद मूलभूत नहीं है। आलोचन भी वैसी ही प्राकृतिक घटना है जैसी आलोच्य वस्तु। उनका विश्वास था कि तटस्थ एकतत्ववाद के द्वारा मन (mind) और भूतवस्तु (matter) के सम्बन्ध की उत्कट समस्या बिलकुल हल हो जाती।

समी

समीक्षात्मक यथार्थवाद चिद्वाद और यथार्थवाद के समन्वय का प्रयत्न है। उसकी यह धारणा कि भौतिक पदार्थ और चित के बीच की एक स्थिति होती है जिसे वह ऐन्द्रिय पुरस्करण अथवा लक्षण-जाटिल्य कहता है नव्य यथार्थवादी की धारणा से, जो बीच की स्थिति मानता ही नहीं, अधिक उपयुक्त है, किन्तु वह इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाया है कि इस लक्षण-जाटिल्य या ऐन्द्रिय पुरस्करण का स्वरूप क्या है। यदि हम समीक्षात्मक यथार्थवाद को तार्किक कसौटी पर कसें तो अन्ततोगत्वा वह चिद्वाद का ही एक रूपान्तर सिद्ध होगा।

बर्ट्रेण्ड रसल ने ज्ञानमीमासा को कुछ नये विचार दिये हैं किन्तु अपनी ज्ञानमीमासा के आधार पर उन्होंने जो तत्त्वज्ञान (metaphysics) का भवन खड़ा किया है वह सतोषजनक नहीं है। रसल का यह दावा है कि विश्लेषणात्मक विधि से सब कुछ जाना जा सकता है और दर्शन भी एक प्रकार का विज्ञान है। किन्तु दर्शन की समस्याएं विश्लेषणात्मक विधि से नहीं हल की जा सकती। उसके लिए सश्लेषणात्मक विधि को अपनाना आवश्यक हो जाता है। दर्शन और विज्ञान को एक ही स्तर का नहीं माना जा सकता। विज्ञान का क्षेत्र केवल अनुभव तक सीमित है। दर्शन अनुभवातीत तथ्य को भी जानने की चेष्टा करता है। विज्ञान मानव के इष्टत्व, श्रेयस् और मूल्या पर कुछ विचार नहीं करता, किन्तु दर्शन इष्टत्व, अर्हा पर मुख्य रूप से विचार करता है।

रसल ने आलोचन और ऐन्द्रिय पुरस्करण को पारमार्थिक सत्ताएं बताया है, किन्तु वह न बता सके कि इनमें पारस्परिक व्यवस्था किस तरह स्थापित होती है।

रसल की तटस्थ सत्ता का सिद्धान्त बहुत ही अस्पष्ट है। वह यह न बतला सके कि उस तटस्थ सत्ता का स्वरूप क्या है।

उनका मानव व्यक्तित्व का सिद्धांत भी दोषपूर्ण है। उनके लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानव आलोचनों और ऐन्द्रिय पुरस्करण का पुञ्जमात्र है। किन्तु इस सिद्धान्त से व्यक्ति के अनुभवों में जो एकसूत्रता और अविच्छिन्नता परिलक्षित होती है वह कैसे सिद्ध की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

MOORE, G. E., *Philosophical Studies*
——, *Principia Ethica.*
——, *Some Main Problems of Philosophy*
NEO REALISTS, *The New Realism.*
RUSSELL, B., *The Problems of Philosophy*
——, *An Inquiry into Meaning and Truth.*
——, *Our Knowledge of the External World*
——, *Logic and Knowledge*
——, *Analysis of the Mind.*

अध्याय 6

उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन
(EMERGENT EVOLUTION)

[सी० लायड मार्गन का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन, सैमुअल अलेक्ज़ेण्डर का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन; ज्ञानमीमांसा, देश-काल से विश्व का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन; सामान्य सार्वभौमिक धर्म; गुण, इष्ट, अर्हा अथवा मूल्य; देव और ईश्वर; समीक्षा।]

सी० लायड मार्गन (C. Lloyd Morgan) का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन

विवर्तन क्रमिक विकास की व्यापक योजना है। हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दो मे विवर्तन अविशेष से विशेष, सरल से जटिल, और अविशिष्ट से विशिष्टता की ओर गतिमान होता है। लायड मार्गन इत्यादि विद्वानो का कहना है कि विवर्तन यान्त्रिक नही होता। प्रकृति मे दो प्रकार की वस्तुए दिखलायी देती हैं : एक तो पूर्ववर्ती घटको का परिणाम मात्र (resultant) होती हैं, दूसरी उत्क्रान्ति (emergent) होती है। जिसमे केवल पूर्ववर्ती कारणो के धर्म नही होते, प्रत्युत एक ऐसी नवीनता का उद्भव होता है जो कि पूर्ववर्ती कारणो मे नही था, प्रत्येक स्तर पर एक नवीनता की उत्क्रान्ति होती है। उसका नाम लायड मार्गन ने उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन (emergent evolution) दिया है।

अजैव (inorganic) से जैव (organic) और जैव से चैतसिक विकास (mental evolution) मे हमे आपातत निरन्तरता (continuity) का भग प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत वह विकास का भग नही है, प्रत्युत विकास का एक नवीन आयाम है, आरोहण का एक नया प्रमाण है। इसी नवीन आयाम को

लायड मार्गन ने उत्क्रान्ति कहा है। 1922 के गिफ़ोर्ड लेक्चर में उन्होंने इसी मत को प्रतिपादित किया था जो कि *Emergent Evolution* शीर्षक से ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हुआ। उनके अनुसार विवर्तन अवस्थाओं की ऐसी शृंखला है जिसमें संघटन का प्रत्येक स्तर पर कोई न कोई नया रूप प्रकट होता है। उनका कहना है कि जगत् एक कोणस्तूप (pyramid) के समान है। इसके आधार के निकट परमाणु जाल है। उससे ऊपर परमाणु परस्पर मिलकर नयी इकाइयों की सृष्टि करते हैं जिसको व्यूहाण्वीयता (molecularity) कहा जा सकता है। इससे उच्चतर स्तर पर भौतिक वस्तुओं का ऐसा संघटन होता है कि एक नयी अवस्था की उत्क्रान्ति होती है जिसे जीवन कहते हैं। इससे और उच्चतर स्तर पर मन या चित्त की उत्क्रान्ति होती है। मन स्तूपकोण का शीर्ष है, किन्तु वह जीवन और भूतवस्तु से संयुक्त है। जीवन इस स्तूपकोण का मध्य है जिसमें कि भूतवस्तु समाविष्ट है। बिना चेतना के न जीवन दृष्टिगोचर होता है और न बिना जीवन के भूतवस्तु दृष्टिगोचर होती है। लायड मार्गन का कहना है कि उच्चतर अवस्था का निम्नतर अवस्था के साथ निमज्जन (involution) का सम्बन्ध है। निम्नतर का उच्चतर अवस्था के साथ सम्बन्ध आश्रय (dependence) का है। भूतवस्तु की क्रिया जीवन के स्तर पर किस प्रकार की होगी यह जीवन पर ही अवलम्बित है। इसी प्रकार जीवन की क्रिया चेतना के स्तर पर किस प्रकार की होगी यह चेतना पर ही आश्रित है।

इन उत्क्रान्तियों (emergents) को क्या या कौन प्रेरित करता है ? लायड मार्गन का विश्वास है कि इनको प्रेरित करने वाली ईश्वरीय क्रियाशक्ति है जो विवर्तनात्मक प्रणाली के परे है। उनका उद्‌गार इस प्रकार है : "कोई कुछ कहे, मैं परमात्मा को वह प्रेरक शक्ति मानता हूं जिसकी क्रियाशीलता सब उत्क्रान्तियों का प्रेरक है और जिसके द्वारा सारा उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन सचालित होता है। यही मेरा दार्शनिक विश्वास है जो मेरी व्याख्या की वैज्ञानिक पद्धति का अनुपूरक है।"

सैमुअल अलेक्जेण्डर (Samuel Alexander, 1859-1938) का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन

अलेक्जेण्डर जो कि कुछ समय तक मैनचेस्टर में दर्शन के प्राध्यापक रहे उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन के बहुत बड़े समर्थक हुए हैं। उन्होंने एक नव्य यथार्थवादी तत्त्वदर्शन प्रस्तुत किया है। उनका दर्शन न तो निरपेक्ष चिद्वाद है, न पूर्ण भौतिकवाद। वह एक प्रकार का अर्ध भौतिकवाद है।

मिनकास्की, आइनस्टाइन इत्यादि वैज्ञानिकों ने सत् या मूलभूत द्रव्य

अविभाज्य देश काल माना है। अलवज़ेण्डर इन वैज्ञानिको के प्रत्यय से प्रभावित प्रतीत होते है। उन्होने भी देश-काल को ही सत् या मूलभूत द्रव्य माना है। इनके मुख्य ग्रन्थ हैं *Space, Time and Deity* (1920), *Art and the Material* (1925), *Beauty and Other Forms of Value* (1933)

लायड मार्गन अपने दर्शन का प्रारम्भ भौतिक घटनाओ से करते हैं। अलक्जेण्डर अपने दर्शन का प्रारम्भ देश-काल से करते हैं। लायड मार्गन का विश्वास था कि ईश्वर की क्रियाशीलता से ही सब विवर्तन होता है। अलेक्जेण्डर किसी शक्तिमान् स्रोत मे विश्वास नही करते। उनकी धारणा है कि सारा विवर्तन देश काल के अदभुत चमत्कार का परिणाम है। उनके दर्शन का हम निम्नलिखित शीर्षको मे अध्ययन कर सकते हैं

ज्ञानमीमासा

अलेक्जेण्डर नव्य यथार्थवादी थे। वह ज्ञान सम्बन्धी ऐक्य (epistemological monism) मे विश्वास रखते थे। वह यह मानते थे कि ज्ञानक्रिया सीधे ज्ञेय का बोध करती है। ज्ञान और ज्ञेय के बीच मे किसी प्रत्यय की सत्ता नही होती। ज्ञान और ज्ञेय की सहोपस्थिति (compresence) होती है। चित्त स्वभावत विषय का ग्रहण करता है।

प्रश्न होता है कि क्या हम अपनी मानसिक क्रिया का विषय रूपेण नही जानते? अलक्ज़ेण्डर का कहना है कि अन्तर्निरीक्षण (introspection) तक मे भी हम अपनी मानसिक क्रिया को विषयरूपेण नही जानते। विषय को तो हम बोध से भिन्न पदार्थ के रूप मे जानते हैं किन्तु हमारा बोध और उस बोध का बोध होना दोनो एक ही है, भिन्न नही है। किन्तु एक मानसिक क्रिया स्वानुभूत्यात्मक रूप (subjective way) मे जानी जा सकती है, विषय रूप मे नही। स्वानुभूत्यात्मक ज्ञान और विषयात्मक ज्ञान के भेद को स्पष्ट करने मे उन्होने पहले के लिए आस्वादन (enjoyment) शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे के लिए अनुध्यान (contemplation) शब्द का। चित्त अपनी क्रिया का आस्वादन करता है, किन्तु किसी विषय का जैसे प्रत्यक्ष मे एक वृक्ष अथवा स्मृति मे उसके प्रतिरूप का वह अनुध्यान करता है।

हम विषय या ज्ञेय का ज्ञान सीधे अव्यवहित रूप मे होता है, एक प्रत्यय के द्वारा नही। केवल प्रत्यक्ष मे ही विषय का ज्ञान अव्यवहित रूप मे नही होता, स्मृति मे भी विषय का ज्ञान अव्यवहित रूप मे होता है। जब हम किसी विषय का स्मरण होता है तो उसका जो चित्त मे वर्तमान प्रतिरूप है उसका नही, अतीत के विषय का स्मरण हो आता है।

अलेक्जेण्डर यह मानते हैं कि एक भ्रान्त आभास भी विषय के रूप मे ही प्रकट

होता है। हम उसका प्रत्यक्ष विषय के रूप ही मे करते है। भ्रान्ति केवल इस बात मे है कि हम इसे बाह्य जगत् के एक ऐसे पदार्थ से जोड़ लेते हैं जिसमे यह विद्यमान नही है।

देश-काल से विश्व का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन

अलेक्जैण्डर की यह धारणा है कि देश-काल वह मूलभूत द्रव्य है जिससे पदार्थों का उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन होता है। उन्होने देश-काल की परिकल्पना के आधार पर विवर्तन का भवन खड़ा किया है।

देश-काल की हमे सहज ईक्षा (intuition) होती है। उसे हम आलोचन (sensation) और प्रत्यय (ideas) द्वारा नही जान सकते। साधारण रूप से जिन देशो और कालों का हमें प्रत्यक्ष होता है वे सब एक अविच्छिन्न असीम देश-काल के सीमित रूप हैं। सीमित देश और काल का हमे आलोचन अथवा प्रत्यय द्वारा भान होता है। उन्ही के साथ ही साथ हमे असीम देश-काल का एक सहज ईक्षा के द्वारा बोध होता है। असीम (infinite) देश-काल एक अभावात्मक (negative) प्रत्यय नही है। वह एक भावात्मक (positive) सहज ईक्षा है। प्रत्यक्ष मे भी सभी देश-काल उसी असीम देश-काल के सीमित रूप में प्रकट होते है।

सामान्यत: देश और काल परस्पर भिन्न और स्वतंत्र माने जाते है। किन्तु इनकी भिन्नता हमारी विविक्त विचारणा (abstraction) का परिणाम है। वस्तुत: ये अन्योन्याश्रयी (interdependent) हैं। न तो काल बिना देश के और न देश बिना काल के हैं। देश काल से संयुक्त होता है और काल देश से संयुक्त होता है। देश ही वह सातत्य (continuum) प्रदान करता है जिसके बिना काल विच्छिन्न क्षणों का प्रत्यय मात्र हो जाता है। हम काल के विभिन्न क्षणो को अनवरत (continuous) क्रम के रूप में सोच ही नही सकते जब तक कि हम उन क्षणों को एक पंक्ति या रेखा (line) के रूप मे अपनी कल्पना में न चित्रित कर लें। यह पंक्ति या रेखा देश का ही रूप है। ऐसे ही एक पंक्ति के विभिन्न भागो का हमे तभी बोध होता है जब हम उन भागों को विभिन्न क्षणो के अनुक्रम मे अनुभव करते है। क्षणों का अनुक्रम काल का ही रूप है। अत: यह स्पष्ट है कि देश और काल परस्पराश्रित है। हम अपनी कल्पना से इन्हे चाहे अलग-अलग रूप मे विचारें किन्तु इनका वस्तुत: विच्छेद नही हो सकता।

यही देश-काल वह मूलभूत द्रव्य है जिससे सब पदार्थों का उद्गम होता है। प्रश्न यह होता है कि क्या चित्त का भी देश-काल से ही उद्गम है ? क्या मानसिक क्रियायें भी देशकालजन्य है ? मानसिक क्रियाओं मे एक क्रम होता है। अत: यदि हम यह मान भी लें कि उनकी गति काल मे होती है, फिर भी यह तो कभी भी नही

माना जा सकता कि मानसिक क्रियाएं देशयुक्त हैं। अलेक्जेंडर का कहना है कि मानसिक क्रियाओं के आस्वादन में भी देश-काल वैसे ही व्याप्त है जैसे कि पदार्थों के अनुध्यान में। अलेक्जेंडर यह मानते हैं कि मानसिक क्रिया और मस्तिष्क की नाड़ी की क्रिया में तादात्म्य है। मानसिक क्रिया और नाड़ी की क्रिया एक ही है। अत मानसिक क्रिया का आस्वादन नाड़ी की क्रिया का ही आस्वादन है और नाड़ी की क्रिया तो देश काल में होती ही है। तो फिर यह सिद्ध हो गया कि मन अथवा मानसिक क्रिया भी देश काल से व्याप्त है।

देश-काल का विशेष गुण है गति (motion)। देश-काल की गति से कुछ सार्वभौमिक धर्म उद्भूत होते हैं जो कि सभी पदार्थों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इन्हें अलेक्जेंडर ने व्यापक धर्म (categories) कहा है। देश-काल से जो पदार्थ उद्भूत होते हैं उनके कई स्तर होते हैं—भौतिक, जैविक, मानसिक। प्रत्येक स्तर में एक नवीनता होती है जो कि परिणाम (resultant) नहीं, एक उत्क्रान्ति (emergent) है। विवर्तन का एक सोपानिक क्रम है। यद्यपि उच्चतर स्तर निम्नतर स्तर के ही आधार पर खड़ा हुआ है तथापि उच्चतर स्तर में एक अपूर्वता, एक नवीनता होती है जो कि निम्न स्तर की विशेषताओं का परिणाम मात्र नहीं होती। उच्चतर स्तर में एक अभूतपूर्व उत्क्रान्ति होती है। जैव योनि भौतिक पदार्थों का एक परिवर्धित संस्करण मात्र नहीं है। इसी प्रकार इससे उच्चतर मानसिक स्तर जैव स्तर की एक बृहत् पुनरावृत्ति नहीं है। निम्नतर स्तर उच्चता का आधार मात्र है, उसका कारण नहीं।

सामान्य सार्वभौमिक धर्म (Categories)

हम यह देख चुके हैं कि देश-काल की गति से कुछ सामान्य सार्वभौमिक धर्म उद्भूत होते हैं जो सभी पदार्थों में पाये जाते हैं। संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब गति के विभिन्न समूहीकरण हैं। पदार्थों में दो प्रकार के धर्म होते हैं—व्यापक और परिवर्तनशील। व्यापक धर्म सभी पदार्थों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। इनको अलेक्जेंडर *सामान्य सार्वभौमिक धर्म* (categories) कहते हैं। परिवर्तनशील धर्मों को वह गुण (qualities) कहते हैं।

सामान्य सार्वभौमिक धर्म सभी अनुभूत पदार्थों के सारभूत व्यापक तत्त्व हैं। ये चेतसिक और अचेतसिक दोनों प्रकार के पदार्थों में पाये जाते हैं। ये प्रागनुभविक (a'priori) होते हैं। गुण अनुभवमूलक होते हैं। चाहे हम किसी पदार्थ का अनुभव हुआ हो या न हुआ हो, हम यह पहले ही से कह सकते हैं कि सार्वभौमिक धर्म जैसे, द्रव्य, सम्बन्ध इत्यादि उसमें अवश्य विद्यमान होंगे।

सार्वभौमिक धर्म ये हैं (1) तादात्म्य, विभेद, अस्तित्व, (2) सार्वत्रिक, विशेष व्यक्ति, (3) सम्बन्ध, (4) व्यवस्थायुक्त क्रम, (5) द्रव्य, कारण,

पारस्परिकता (reciprocity), (6) परिमाण, (7) अखण्ड, खण्ड, सख्या, (8) गति।

अलेक्जैण्डर ने यह बतलाया है कि किस प्रकार देश-काल व्यवस्था से ये सार्वभौमिक धर्म निष्पन्न होते है। देश-काल की गणना इन सार्वभौमिक धर्मों के भीतर नही हो सकती क्योकि वह तो इन धर्मों का आधार है। सामान्य गति भी जिसका कि देश-काल से ऐक्य है सार्वभौमिक धर्म के अन्तर्गत नही है, किन्तु विशेष गतियो जैसे कारण, कार्य इत्यादि मे सार्वभौमिक धर्म व्याप्त है।

गुण (Qualities)

ऊपर यह बताया जा चुका है कि परिवर्तनशील धर्मो को अलेक्जैण्डर ने गुण कहा है। पदार्थों का गुणो के अनुसार एक क्रम बनाया जा सकता है। गतिया, भौतिक पदार्थ, जीवन, मन—ये सब देश-काल के प्रकार है जिनके सघटन की जटिलता मे भेद है। अलेक्जैण्डर का कहना है कि यद्यपि सभी पदार्थ देश-काल से उद्भूत होते हैं तथापि एक विशेष अर्थ मे काल गति का उत्स है। परिवर्तनशील गुणो की जटिलता के तारतम्य के कारण पदार्थो मे भेद हो जाता है।

इष्ट, अर्हा, अथवा मूल्य (Values)

ससीम गति, भूतवस्तु, जीवन और मन वास्तविक सत् (reality) के गुण है। ये मन अथवा चेतना पर आश्रित नही हैं किन्तु कुछ इष्ट यथा सत्य, शिव (शुभ), सुन्दर—ऐसे हैं जो मन पर ही आश्रित है। मन मे यह विशेषता होती है कि वह विश्व और जीवन के विषय मे विचार करता है। इष्ट अथवा मूल्य इसी विचार के परिणाम हैं। ये वास्तविक सत् के गुण नही हैं। वास्तविक सत् अपने मे न तो सत्य है, न शिव, न सुन्दर। रग, गन्ध इत्यादि प्रकृति के गुण मात्र है। किन्तु जब हम इनकी अर्हा आकते है और कहते है कि यह रग बहुत सुन्दर है, यह गन्ध बहुत मनोरम है तब सुन्दर रूपी इष्ट या मूल्य का उद्भव होता है। इसी प्रकार किसी आचरण के शुभ अथवा अशुभ होने का प्रश्न तभी उठता है जब उसके प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

मूल गुण (primary qualities) ग्राहक (subject) और ग्राह्य (object) दोनो के होते है, गौण गुण (secondary qualities) जैसे, रग, गध इत्यादि केवल ग्राह्य अर्थात् विषय के होते है। तीसरी श्रेणी का गुण (tertiary quality) ग्राहक और ग्राह्य, ज्ञाता और ज्ञेय दोनो की समष्टि से सम्बद्ध होता है। मूल्य का मन पर आश्रित होने का यह अर्थ नही है कि वह वास्तविक नही होता। यह वास्तविक सत् या गुण नही है, किन्तु अपनी जगह पर वह पूर्णरूपेण वास्तविक है।

देव और ईश्वर (Deity and God)

अभी तक वास्तविक सत् की जो उत्क्रान्तियां व्यक्त हो चुकी हैं उनसे यह पता चलता है कि देश-काल मे एक ऐसी प्रेरक शक्ति (nisus) है जो एक के अनन्तर दूसरी उत्क्रान्ति को प्रणोदित करती है। यह प्रणोदन प्रथमावस्था से उत्तरावस्था को जन्म देता है और प्रत्येक उत्तरावस्था एक नया गुण है जिसको अलेक्जैण्डर एक व्यापक अर्थ मे देव कहते हैं। वह 'देवत्व' शब्द का तीन अर्थो मे प्रयोग करते हैं (1) दूसरी उच्चतर अवस्था, (2) देव, जैसे फरिश्ता अथवा इन्द्र, (3) ईश्वर।

अभी तक जो सर्वोच्च उत्क्रान्ति अभिव्यक्त हुई है वह मानवीय मन है। किन्तु हम यह नही कह सकते कि यह अन्तिम उत्क्रान्ति है। इसके आगे उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन और भी उडानें भरेगा। हम अतिमानव, देव, अतिदेव, ईश्वर रूपी उत्क्रान्तियों की कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक अनुभव के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मानवीय मन के अनन्तर दूसरी उत्क्रान्त्यात्मक सत्ता देवत्व की ही होगी। वह देवत्व मानव शरीर मे ही उत्क्रान्त होगा, यह कहना कठिन है। देवत्व दो प्रकार का होता है ससीम और असीम। ससीम देव तो हमारे जगत् में नही हैं। सम्भव है किसी और भुवन में हो। किन्तु असीम देव अर्थात् ईश्वर का अभी तक आविर्भाव नही हुआ है यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। अलेक्जैण्डर का यह विश्वास है कि अभी ईश्वर की अभिव्यक्ति नही हुई है। सारे विवर्तन का प्रवाह ईश्वर की अभिव्यक्ति की ओर है। ईश्वर अभी वर्तमान नही है। वह केवल एक आदर्श है।

समीक्षा

लायड मार्गन ने उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन का आधार निसर्गवाद (naturalism) बताया है। साथ ही वह यह भी कहते है कि उत्क्रान्तियो (emergents) को ईश्वरीय क्रियाशक्ति प्रेरित करती है। लायड मार्गन ने उत्क्रान्ति का बहुत सुन्दर दर्शन उपस्थापित किया है। किन्तु निसर्गवाद और ईश्वरवाद म वह सामञ्जस्य नही स्थापित कर सके। जिस प्रकार की उत्क्रान्ति का उन्होने वर्णन किया है वह विचार से देखने पर उद्देशपरक प्रतीत होती है। उद्देशपरक विवर्तन निसर्गवाद के आधार पर नही प्रतिष्ठित किया जा सकता। उन्होने यह नही स्पष्ट किया है कि भिन्न स्तरो पर उत्क्रान्तियां किसी विशेष नियम के अनुसार होती हैं या केवल यदृच्छा से घटित होती हैं।

लायड मार्गन की तरह अलेक्जैण्डर ने भी उत्क्रान्तियों का बहुत ही विशद वर्णन किया है किन्तु वह यह स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे है कि देश-काल म जीवन, मन और देव का क्रम विवर्तन होता है। देश काल केवल गणितीय प्रत्यय है और

सर्वथा अचेतन है। लायड मार्गन की तरह वह ईश्वरीय क्रिया में विश्वास नही रखते। तो देश-काल मे कौन सी ऐसी शक्ति है जो उच्चस्तरीय सत्ताओ को उद्भूत करती है।

उनकी प्रेरक शक्ति (nisus) का प्रत्यय सन्तोषजनक नही है। क्या यह प्रेरक शक्ति देश-काल का एक प्रकार है अथवा उससे कोई भिन्न वस्तु है ? यदि यह देश-काल का प्रकार है, तब अचेतन देश-काल सारे विवर्तनात्मक प्रयाण का प्रवर्तक बन बैठेगा। यदि प्रेरकशक्ति देश-काल से भिन्न है, तो समस्या यह होगी कि देश-काल प्रेरक शक्ति का मार्गदर्शक कैसे बनता है ? जब तक हम प्रेरक को एक आध्यात्मिक शक्ति न मानें तब तक अलेक्जैण्डर का सारा उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन का सिद्धान्त युक्तिसंगत नही कहा जा सकता।

अलेक्जैण्डर की ईश्वर की कल्पना तो बहुत ही विचित्र है। यदि ईश्वर है ही नही, वह भविष्य की सम्भावना मात्र है, तब ईश्वर की आराधना एक कल्पित सत्ता की आराधना होगी। ऐसा सत्ताहीन ईश्वर मानव के किसी काम का नही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

ALEXANDER, S , *Space, Time and Deity.*
LLOYD MORGAN, E. R. S , *Emergent Evolution.*

अध्याय 7

आधुनिक भारतीय चिद्वाद
(MODERN INDIAN IDEALISM)

[कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, निर्विशेष अवाच्य परमतत्त्व, निषेध, निरपेक्ष चिद्वाद, दर्शन का वास्तविक अर्थ, ज्ञाता और ज्ञेय, निरपेक्ष परमतत्त्व का आत्मप्रकाशन, समीक्षा।]

भारतीय चिन्तकों ने विगत कुछ वर्षों के भीतर पाश्चात्य दर्शन की सरणि में भारतीय दर्शन को उपस्थापित किया है। इनमें से निम्नलिखित चिद्वाद के प्रतिपादकों का दर्शन संक्षिप्त रूप से दिया जा रहा है :

(1) कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, (2) भगवान्‌दास, (3) सर्वपल्ली राधाकृष्णन, (4) पण्डित गोपीनाथ कविराज, (5) श्री अरविन्द घोष, (6) रवीन्द्रनाथ टैगोर, (7) महात्मा गांधी।

1 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, 1875 1949

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का सिरामपुर (बंगाल) में 12 मई 1875 को जन्म हुआ और 11 दिसम्बर *1949* को निधन हुआ। वह *1898* में बंगाल शासन द्वारा दर्शन के लेक्चरर नियुक्त हुए और 1930 में सेवा निवृत्त हुए। इसके पश्चात् वह आमलनेर के Indian Institute of Philosophy में 1933 से 1935 तक निदेशक रहे और इसके अनन्तर कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1935 से 1937 तक George V Professor of Mental and Moral Philosophy रहे।

वह दर्शन के बहुत ही मेधावी विद्वान् थे। जर्मन दर्शन और शांकर वेदान्त का उन पर विशेष प्रभाव था। उनके निधन के पश्चात् उनके लेखों का संग्रह *Studies in Philosophy* दो खण्डों में उनके सुपुत्र श्री गोपीनाथ भट्टाचार्य ने प्रकाशित करवाया।

निर्विशेष अवाच्य परमतत्त्व (The Absolute Indefinite)

दार्शनिक चिन्तन प्राय. प्रमाता-प्रमेय, ग्राहक-ग्राह्य, ज्ञाता-ज्ञेय के घेरे मे चक्कर काटता रहता है। भट्टाचार्य की धारणा यह है कि जब तक हम प्रमाता-प्रमेय से परे जो निर्विशेष अवाच्य परमतत्त्व है उसको एक आधार रूप मे न समझें तब तक हम प्रमाता-प्रमेय (subject-object) को भी ठीक ढग से नही समझ सकते।

काण्ट ने परमतत्त्व को विकल्पातीत और अनुभवातीत बताया है। इसीलिए वह परमतत्त्व को अज्ञेय मानते है। भट्टाचार्य ने इस विचार का अपने ढग से विस्तृत विश्लेषण किया है। वह कहते हैं कि परमतत्त्व का न तो प्रत्यक्ष किया जा सकता है, न वह विकल्प (thought) का विषय बन सकता है। वह निर्विशेष है, किन्तु निर्विशेष होते हुए भी वह सभी विशेषो का आधार है। वह सभी विशेषो मे अन्तर्व्याप्ति भी है, और उनसे परे भी है। निर्विशेष ही विशेष का रूप ग्रहण करता है।

हीगल भी परमतत्त्व को निर्विशेष मानते है, किन्तु फिर भी उसे विकल्प का विषय मानते है। हीगल ने सत् (being) और असत् (non-being) का प्रतियोग माना है। किन्तु यह प्रतियोग तब तक स्पष्ट नही हो सकता जब तक कि हम एक ऐसे तत्त्व को न मानें जो कि इन दोनो से परे हो और इन दोनो का सम्बन्ध स्थापित करता हो। वह तत्त्व निर्विशेष और निर्विकल्प है।

न्याय मे भी हमे निर्विशेष के तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा। वह पद, विभावना, और अनुमान से परे की वस्तु है। यह निर्विशेष का न्याय ही व्यापक न्याय बन सकता है।

निषेध

निर्विशेष सभी ज्ञेयो का ऐकान्तिक निषेध है। वह एक "अज्ञेय" निषेध है। भट्टाचार्य का विश्वास है कि प्रत्येक दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया के निषेध का एक मूलभूत मत होता है।

कोई दर्शन किसी विशेष प्रमेय (object) को पूर्ण सत्य मान लेता है। जो प्रमेय के रूप में नही प्रकट होता है उसका वह दर्शन निषेध करता है। जिसका निषेध किया गया है उसकी कोई सत्ता नही मानी जाती और न वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध ही माना जाता है। प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है। उसका अन्य मे कोई सम्बन्ध नही माना जाता। सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नही मानी जाती।

दूसरे प्रकार का निषेध वह है जिसम पदार्थो की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध होता है और पदार्थ और उसके अशो का एक विशेष क्षेत्र मे सम्बन्ध माना जाता है।

वही स्थापना सत्य मानी जाती है जो कि सम्बन्ध बताती है। पहले मे सम्बन्ध का निषेध है, दूसरे मे पृथक्त्व का निषेध है। जिसका निषेध हुआ है उसकी केवल स्वनिष्ठ (subjective) सत्ता हो जाती है। स्वनिष्ठता और विषयता का परस्पर निषेध होता है। ये दोनो एक साथ एक व्यवस्थित सहति के रूप मे नही प्रकट होते।

तीसरे प्रकार का निषेध वह है जहा प्रमेय और उसके अशो के बीच मे दोलायमान अवधान का विराम हो जाता है। दोनो का एक साथ ही अवधान होता है और दोनो एक ही प्रतीत होते हैं। इस अवस्था मे प्रमेय और उसके अशो म ऐक्य का सम्बन्ध प्रतीत होता है।

इस स्थिति मे निषेध और विधि (affirmation) एक हो जाते हैं। किसी भी प्रमेय की पुष्टि उसके निषेध के निषेध से होती है। और एक प्रमेय के निषेध का अर्थ होना है उसको छोडकर अन्य सब की प्रतिज्ञा।

चौथा प्रकार वह है जिसम अवधान (attention) ही निषेधात्मक हो जाता है। उदाहरण के लिये जैसे कोई मेज पर रखी हुई चीजो को उन चीजो के लिए न देखे, प्रत्युत किसी पुस्तक के अभाव के लिए देखे। ऐसी स्थिति मे निषेधात्मक अवधान के सम्मुख भावात्मक पदार्थो का केवल प्रत्याख्यान ही होता है।

निषेध के प्रत्येक प्रकार मे सत्य एक विशेष रूप मे प्रकट होता है।

निरपेक्ष चिद्वाद (Absolute Idealism)

भट्टाचार्य न जिसे निर्विशेष कहा है वही उनका निरपेक्ष परमतत्त्व है। प्रत्यक्ष के निषेध से चिन्तन के एक शुद्ध विषय का उदय होता है जिसकी कोई बाह्य सत्ता नहीं है जो कि केवल आत्मसत् (self subsistent) है।

आत्मसत् शुद्ध विषय के निषेध से केवल स्वनिष्ठ चिन्तन-क्रिया बच रहती है जिसका हमे उसके आस्वादन मे अनुभव होता है।

सभी प्रत्यक्ष के अनुभवो और चिन्तन के शुद्ध प्रमेयो के भी निषेध के अनन्तर केवल व्यक्तिरूप प्रमाता बच रहता है। इस व्यक्तिपरक प्रमाता का भी भक्ति और ज्ञान मे आत्मसमर्पण और आत्मविलोपन हो जाता है। जो फिर भी विद्यमान रह जाता है जिसके प्रति आत्मसमर्पण होता है वही परमतत्त्व है। वह निरपेक्ष सत है और 'चित्' मात्र है। इस निरपेक्ष सच्चिदानन्द तक सब निषेधो का अन्त हो जाता है। जब निषेधकर्ता का ही अन्त हो गया तो निषेध कहा रहेगा ? इस स्थिति म प्रमाता प्रमेय के सापेक्ष भाव का अन्त हो जाता है। अब जो सत् है वह प्रमाता प्रमेय के भाव से परे है और सबसे निरपेक्ष होने के कारण स्वातन्त्र्यपूर्ण है।

दर्शन का वास्तविक क्षेत्र

भट्टाचार्य का कहना है कि दर्शन का कार्य तथ्यों (facts) का निर्धारण नही है। वह तथ्यो के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। भट्टाचार्य यह मानते हैं कि दर्शन का क्षेत्र है 'शुद्ध विकल्प (pure thought) के तत्त्व (contents)।' शुद्ध विकल्प से उनका तात्पर्य है बाह्य सत्ताओ और उन पर प्रतिष्ठित तथ्यो से मुक्त विकल्प। शुद्ध विकल्प के उन्होने तीन तत्त्व (contents) माने है (1) आत्मसत् शुद्ध पदार्थ (self-subsistent pure object), (2) व्यक्तिरूप प्रमाता (individual subject) जो प्रमेय रूप मे नही जाना जाता, जिसका केवल आस्वादन मे अनुभव होता है, (3) निरपेक्ष परमतत्त्व जो इन दोनो से परे है। ये तत्त्व शुद्ध विकल्प से पृथक् नही होते। आधुनिक तथ्य अनुभव से पृथक् हो सकते हैं, किन्तु शुद्ध विकल्प के तत्त्व शुद्ध विकल्प से पृथक् नही होते। शुद्ध विकल्प और शुद्ध तत्त्वो में तादात्म्य होता है। शुद्ध विकल्प के स्तर पर शुद्ध तत्त्व स्वयसिद्ध होते हैं। उनकी सिद्धि के लिए तर्क की आवश्यकता नही रह जाती। स्वयसिद्ध होने के कारण शुद्ध तत्त्व आपसे आप उद्घाटित हो जाते हैं। तथ्यो और शुद्ध तत्त्वो मे यही भेद है कि तथ्य सापेक्ष होते है और शुद्ध तत्त्व निरपेक्ष।

विभावना (judgement) मे कर्ता (subject) और विधेय (predicate) की सापेक्षता रहती है, किन्तु शुद्ध विकल्प मे कोई सापेक्षता नही होती। अतः शुद्ध विकल्प कोई विभावना नही होता।

अत दर्शन का क्षेत्र तथ्यो का ज्ञान नही है, सश्लेषात्मक विभावना नही है। उसका क्षेत्र शुद्ध विश्लेषात्मक विकल्प है। उपर्युक्त तीन शुद्ध तत्त्वो के अनुसार भट्टाचार्य दर्शन के तीन भाग मानते हैं. विषय का दर्शन, आत्मा का दर्शन और सत्य का दर्शन।

ज्ञाता और ज्ञेय

भट्टाचार्य की यह धारणा है कि ज्ञातृनिष्ठता और ज्ञेयनिष्ठता मे ऐकान्तेन विभाग नही है। दोनो के बीच की विभाग-रेखा बदलती रहती है। जो एक अवस्था मे ज्ञाता समझा जाता है वही दूसरी अवस्था मे ज्ञेय हो सकता है।

भट्टाचार्य के अनुसार ज्ञातृनिष्ठता और ज्ञेयनिष्ठता की तीन कोटिया हो सकती हैं। एक शारीरिक ज्ञातृनिष्ठता (bodily subjectivity) होती है। इसमे ज्ञाता शरीर से अपना तादात्म्य समझता है और शरीरेतर बाह्य पदार्थों को ज्ञेय समझता है।

शरीर के भीतर भी दूसरी कोटि हो सकती है। जो अपने भीतर अन्तःकरण है उससे तादात्म्य हो सकता है। उस स्थिति मे ज्ञाता चैतसिक (psychic) हो जाता है और दृश्य शरीर ज्ञेय हो जाता है। इस स्थिति को चैतसिक ज्ञातृनिष्ठता

कह सकते हैं।

ऐसे ही अन्तर्निहित चैतन्य को जब हम द्रष्टा या प्रमाता मानते हैं, तब आत्मा ज्ञाता हो जाती है और चेतसिक ज्ञाता उसका ज्ञेय बन जाता है। स्पष्ट है कि ज्ञातृनिष्ठत्व और ज्ञेयनिष्ठत्व सापेक्ष हैं।

इस सापेक्षता के दो निष्कर्ष हैं (1) प्रमाता और प्रमेय, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद यह ध्वनित करता है कि इन दोनों का कोई सामान्य अधिष्ठान होगा जो ज्ञाता ज्ञेय के सम्बन्ध से परे है, जो निरपेक्ष परमतत्त्व है, (2) ज्ञाता की ज्ञेय से अपने को पृथक् कर लेने की शक्यता यह सिद्ध करती है कि ज्ञाता अपने को ज्ञेय से सर्वथा मुक्त कर सकता है।

पूर्ण मुक्ति तभी सम्भव है जब ज्ञाता अपने को आनुभविक और शुद्ध दोनों ज्ञेयों से सर्व प्रकार से पृथक् कर ले और ज्ञाता-ज्ञेय की सापेक्षता को अतिक्रमण कर चैतन्य मात्र में स्थित हो जाय।

निरपेक्ष परमतत्त्व का आत्मप्रकाशन

परमतत्त्व निर्विशेष है। चिन्तन के जितने भी विषय हैं वे सब निर्विशेष के ही विशेष रूप हैं। इस निर्विशेष का सर्वोच्च विशेष आत्मा है जिसका प्रतीक (symbol) अहं (मैं) है। आत्मा का दर्शन प्रतीकात्मक विचार मात्र है। वह उस अर्थ में विचार या विकल्प नहीं होता जिस अर्थ में अनुभव के विषय होते हैं।

विषय का प्रत्यय निषेधमुख से आत्मा पर आश्रित है। निषेधमुख से कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विषय या ज्ञेय अनात्म होता है। जो आत्मा या प्रमाता नहीं है अर्थात् जो अनात्म है वही प्रमेय या विषय होता है। ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता। 'विज्ञातारं अरे केन विजानीयात्।' 'ज्ञाता को किससे जाना जा सकता है।' अतः आत्मा कभी अन्तर्निरीक्षण (introspection) का विषय नहीं बन सकता।

अहं द्वारा जो आत्मचेतना व्यक्त की जाती है उसकी तीन कोटियाँ हैं शरीरधारी होने की चेतना, अन्य व्यक्तियों से सम्बद्ध होने की चेतना, अतिवैयक्तिक आदर्श के प्रति आत्मसमर्पण की चेतना। परमतत्त्व की चेतना अनुभवातीत होती है और तभी जाग्रत होती है जब व्यक्ति चेतना पूर्णरूप से निरस्त हो जाय।

स्व या अहं परमतत्त्व का प्रतीक मात्र है। परमतत्त्व जब चिन्तन (knowing) के माध्यम से आत्मप्रकाशन करता है तब वह सत्य कहलाता है, जब वह समीहा (willing) के माध्यम से आत्मप्रकाशन करता है तब शिव कहलाता है और जब वह वेदना (feeling) के माध्यम से आत्मप्रकाशन करता है तब सुन्दर कहलाता है।

समीक्षा

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एक बहुत ही उच्चकोटि के चिन्तक हुए हैं। उनकी चिन्तन-प्रक्रिया में उनकी स्वकीयता झलकती है। उन्होंने शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों को अपने ढंग से न्याय की उत्कृष्ट प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया है। उनका विश्वास है कि हम शुद्ध विकल्प (pure thought) के द्वारा आत्मसत् प्रमेय, आत्मा और निरपेक्ष परमतत्त्व को जान सकते हैं। किन्तु विकल्प चाहे कितना भी शुद्ध हो, है तो विकल्प ही। आत्मा और परमतत्त्व तो विकल्पातीत है। उसका साक्षात्कार निर्विकल्प अवस्था में ही हो सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

BHATTACHARYA, K. C., *Studies in Philosophy*, 2 Vols., edited by Gopinath Bhattacharya.

2. भगवान्दास 1869-1958

[सृष्टि की समस्या—आरम्भवाद, परिणामवाद; आत्मा-अनात्मा के द्वैत का समाधान; ओम् महावाक्य सृष्टि-प्रक्रिया का प्रतीक; समाज विज्ञान; समीक्षा।]

भगवान्दास का जन्म काशी में 12 जनवरी 1869 को हुआ था। उन्होंने 20 वर्ष की अवस्था में दर्शन में एम० ए० किया और 23 वर्ष की अवस्था में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ *The Science of Peace* लिखा। उनका 18 सितम्बर 1958 को निधन हुआ।

उन्होंने 20 ग्रन्थ लिखे जिनमें मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं: (1) *The Science of Peace*; (2) *The Science of Emotion*, (3) *The Science of Self*; (4) *The Science of Social Organization*, (5) *Pranava-vada*; (6) *The Principles of Sanatana Vaidika Dharma*; (7) *The Science of Religion*; (8) *Ancient and Modern Scientific Socialism*; (9) *Mystic Experiences*; (10) *Concordance Dictionary of Yoga Sutra and Bhasya*, (11) *The Essential Unity of All Religions*; (12) समन्वय; (13) मानवधर्मसारः; (14) दर्शन का प्रयोजन ; (15) पुरुषार्थ।

उनके दार्शनिक विचार मुख्यत: *The Science of Peace* और *The Science of Self* में मिलते हैं।

सृष्टि की समस्या

प्रत्येक विचारशील मानव के हृदय में कभी न कभी यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि कैसे हुई और प्राय उसका वह कुछ न कुछ समाधान भी सोचता है। भगवान्दास का कहना है कि दार्शनिक इतिहास में इसके निम्नलिखित समाधान मिलते हैं

1 आरम्भवाद (Creationism)—यह वाद यह विश्वास करता है कि ईश्वर ने किसी काल में सृष्टि की और फिर जब उसकी इच्छा होती है तब उसका सहार कर देता है ठीक वैसे ही जैसे बालक घर-घरौंदे बनाते हैं और फिर उसे बिगाड देते हैं। साधारणत लोग यही समझते हैं कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। जगत और जीव दोनो कार्य हैं। अत इनका कोई कारण होना चाहिए। इन सबका कारण कोई ईश्वर है जो किसी समय इस विश्व का वैसे ही निर्माण करता है जैसे कुम्हार घडे का।

इस प्रकार के विश्वास में शान्ति नही मिलती। नाना प्रकार की शकाए खडी होने लगती हैं। एक महाशक्तिशाली, कृपालु, दयालु ईश्वर ऐसे विश्व की क्यो रचना करता है जिसमे दुख, जरा मरण, भय, शोक, सघर्ष इत्यादि भरा पडा है। ऐसे स्रष्टा और उसकी कृति में विश्वास चला जाता है।

2 परिणामवाद (विकारवाद)—आरम्भवाद में विश्वास उठ जाने पर मनुष्य परिणामवाद में शरण लेता है। वह सभी प्रपञ्च का विश्लेपण करके इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि अन्ततोगत्वा दो ऐसी वस्तुए हैं जिनका और विश्लेपण नही हो सकता। इनको वह भिन्न भिन्न नाम देता है पुरुष प्रकृति, आत्मा-अनात्मा, चेतन-जड, अथवा भूतवस्तु और शक्ति (matter and force)। वह सोचता है कि स्रष्टा की कल्पना व्यर्थ है। अनादि से विश्व में दो वस्तुए हैं पुरुष प्रकृति, जड चेतन। इन दोनो के सयोग से विश्व की रचना हुई है। ये दोनो वस्तुए अनादि और अक्षय हैं। इन्ही दोनो की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया से विश्व की प्रक्रिया चलती है। सक्षेप में एक भूतवस्तु या प्रकृति (matter) है और दूसरी वस्तु शक्ति (force) है। यह शक्ति चेतन हो सकती है अथवा सर्वथा अचेतन। सारी विश्व प्रक्रिया इन्ही दोनो का खेल है। इनमे आकार, गुण, क्रिया इत्यादि की दृष्टि से परिणाम अथवा विकार होता रहता है। इसी कारण से विश्व में नानात्व है।

भगवान्दास का यह कहना है कि दो असीम, दो अनन्त को बुद्धि स्वीकार नही करती। असीम अथवा अनन्त तो एक ही हो सकता है। इसलिए परिणामवाद से भी सन्तोष नहीं होता।

आत्मा-अनात्मा के द्वैत का समाधान

आत्मा और अनात्मा का द्वन्द्व इतना प्रत्यक्ष है कि इसका परिहार करना सम्भव नहीं प्रतीत होता, साथ ही बुद्धि दो अनन्त मानने के लिए तैयार नहीं है। इस द्वैत का समाधान क्या हो सकता है ?

भगवान्दास का कहना है कि इसका समाधान उनके जीवन में 1887 में हुआ जबकि एक दिन उनके मन में सहसा यह महावाक्य उठा—"अहं एतत् न (अस्मि)।" जर्मन दार्शनिक फिक्टे और वेदान्त में इस महावाक्य की उन्हें परिपुष्टि मिली।

फ़िक्टे ने यह देखा कि एक ही ऐसा परमतत्त्व है जो सब सत्ताओं का मूल है। वह है अहं (मैं)। यह व्यक्तिगत 'अहं' नहीं है। यह सामान्य अहं (ego) है। यही परमतत्त्व है। अहं का अस्तित्व अनहं (non-ego) द्वारा निश्चित होता है। होना और चेतन होना एक ही बात है। अहं की चेतना अनहं की चेतना के साथ ही होती है। एक ही चेतना मे अहं और अनहं एक साथ ही प्रत्युपस्थापित होते हैं।

परमतत्त्व की चेतना में अहं और अनहं एक साथ ही प्रकट होते है। अहं और अनहं का सहसम्बन्ध (correlates) है। अनहं अर्थात् जगत् या प्रकृति अहं के क्रियाकलाप का क्षेत्र है। यद्यपि अहं के लिए अनहं आवश्यक है तथापि अनहं अहं के पूर्ण ज्ञान में बाधक भी बन जाता है।

परम 'अहं' का स्वकीय प्रतिज्ञान (affirmation) प्रथम क्रम है। इसको फिक्टे ने विधान (thesis) कहा है। अहं और अनहं का परस्पर परिसीमित करना दूसरा क्रम है। इसको फिक्टे ने प्रतिधान (antithesis) कहा है। तीसरा क्रम वह है जिसमें कुछ परिपूर्ति हो जाती है। इसको फ़िक्टे ने समाधान (synthesis) कहा है।

भगवान्दास की यह धारणा है कि फिक्टे का उक्त मत उनके "अहं एतत् न (अस्मि)" महावाक्य का समर्थन है। फ़िक्टे ने जिस बात को तीन वाक्यों मे कहा है उसको उन्होंने एक ही वाक्य में कह डाला है, जिसमें प्रतिज्ञप्ति (affirmation) और निषेध (negation) दोनों विद्यमान हैं। उनका कहना है कि उपनिषद् में भी इस प्रकार का एक ही विधिनिषेधात्मक वाक्य विद्यमान है। उदाहरणार्थ, "न अन्यत्-आत्मनो अपश्यन्" (बृहदारण्यक 1, 4,, 1), "न हि एतस्मात् इति न इति अन्यत् परम् अस्ति" (बृहदारण्यक 2, 3, 6)।

भगवान्दास की यह मान्यता है कि इसी विधिनिषेधात्मक एक वाक्य मे विश्व-प्रक्रिया का रहस्य निहित है। उक्त वाक्य मे अहं 'एतत्' द्वारा विश्व का विधिमुख से प्रतिज्ञप्ति करता है और 'न' द्वारा उसका निषेध। 'एतत्' द्वारा समस्त सृष्टि का संकेत है और 'न' द्वारा उसका मुक्ति की अवस्था मे निषेध।

'अह एतत् न' महावाक्य मे ससार और मुक्ति दोनो का निर्देश है। परमतत्व मे 'अह एतत् न' का विमर्श उठता है और यही विमर्श ससार की सत्ता और उससे मुक्ति दोनो को प्रकट करता है।

'ओम्' महावाक्य सृष्टि-प्रक्रिया का प्रतीक

भगवान्दास ने दृढतापूर्वक इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उक्त विधिनिषेधात्मक महावाक्य या 'ओम्' शब्द प्रतीक है। 'ओम्' मे तीन अक्षर है—अ, उ, म्। यह त्रिपुटी 'अ' से 'अह', 'उ' से 'अनह' और 'म्' से 'न अस्मि' को अभिव्यक्त करती है। 'अनह' का अर्थ है 'एतत्' (यह) अर्थात् यह विश्व। 'न अस्मि' मे 'अस्मि' के द्वारा विश्व का होना घोषित होता है और 'न' के द्वारा उसका (मुक्ति मे) निषेध।

'ओम्' परमतत्त्व या ब्रह्म की मूल या आद्य अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा विश्व का होना और उसका निषेध बराबर ब्रह्म मे ध्वनित होता रहता है। 'अ' आत्मा या परमात्मा का, 'उ' अनात्मा या प्रकृति अथवा विश्व का और 'म्' दोनो के बीच का विधिनिषेधात्मक सम्बन्ध या शक्ति का बोधक है। 'अ' अध्यात्म का, 'उ' अधिभूत का और 'म्' शक्ति या अधिदेव का व्यञ्जक है।

भगवान्दास ने बडे परिश्रम और विद्वत्ता से इन्ही तीन के भीतर विश्व का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होने 'अह अनह (एतत्) न (अस्मि)' का स्पष्टीकरण शाकर वेदान्त के अध्यारोपापवाद न्याय द्वारा किया है। उनका कहना है कि अह या आत्मा, अनह या वेद्य जगत् को अपने ऊपर अध्यारोपित करता है और पुन. उसका अपवाद या निषेध करता है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है।

(अ) 'अह' (आत्मा), (उ) 'एतत्' (सारा विश्व) की प्रतिज्ञा (affirmation) करता है अर्थात् वेदान्त के शब्दो मे अध्यारोपित करता है, (म्) अर्थात् 'न' द्वारा उसका अपवाद या निषेध करता है। आत्मा एतत् की सत्यता या वास्तविकता का अपवाद या निषेध करता है। 'अह' और 'अनह' को जोडने वाली शक्ति द्विमुखी है। वह एक साथ ही विधि भी है, निषेध भी है। प्रतिज्ञा भी है, प्रत्याख्यान भी है, सयुक्ति भी है, वियुक्ति भी है, तादात्म्य भी है, विच्छेद भी है। इसी प्रतिज्ञा और प्रत्याख्यान मे सृष्टि और सहार का रहस्य छिपा हुआ है।

'अह' (आत्मा) जब 'अनह' (अनात्मा) की प्रतिज्ञा (affirmation) करता है, तो उस प्रतिज्ञा के तीन पक्ष होते हैं। (1) 'अह' 'अनह' को सामने रख कर जानता है (ज्ञान)। (2) 'अह' 'अनह' पर क्रिया करता है अर्थात् उससे तादात्म्य और विच्छेद स्थापित करता है (क्रिया)। (3) 'अह' 'अनह' को सयुक्त और वियुक्त करना चाहता है (इच्छा)। जो व्यक्ति की दृष्टि से ज्ञान,

इच्छा और क्रिया है वही विराट् की दृष्टि से चित् (ज्ञान), आनन्द (इच्छा) और सत् (क्रिया) है। सारी सृष्टि ज्ञान, इच्छा और क्रिया का खेल है।

इसके अनन्तर भगवानुदास ने अपने पूरे ग्रन्थ मे बहुत ही विस्तारपूर्वक यह दिखलाया है कि किस प्रकार सारा जगत् ज्ञान, इच्छा, क्रियाका विकास मात्र है।

समाजविज्ञान

भगवान्दास ने सामाजिक व्यवस्था पर भी गम्भीर चिन्तन किया है। इस विषय मे अपने विचार का उन्होने *The Science of Social Organization* नामक ग्रन्थ के तीन खण्डो मे विशद वर्णन किया है। उनकी स्थापना है कि सामाजिक समस्याओ का सबसे वैज्ञानिक समाधान भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था है। इसको वह वैज्ञानिक समाजवाद कहते हैं। आधुनिक समाजवाद केवल आर्थिक मूल्य को जीवन का सर्वोत्कृष्ट इष्ट मानता है। किन्तु इतना अर्थ अथवा सम्पत्ति कभी भी ससार मे नही हो सकती जिसका बटवारा सब मे समान रूप से किया जा सके। रहने के लिए मकान, भरपेट भोजन, वस्त्र इत्यादि आवश्यक पदार्थ तो सबके लिए चाहिए। किन्तु धन भी सबके पास बराबर हो यह सम्भव नही है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था चार प्रकार के काम और चार प्रकार के दाम, चार प्रकार के मनोवैज्ञानिक स्वभाव और कार्य और चार प्रकार के इष्ट अथवा मूल्य पर प्रतिष्ठित थी। कुछ लोग स्वभावतः बौद्धिक कार्यो मे अभिरुचि रखते है। ये समाज के वैज्ञानिक, दार्शनिक, चिन्तक, पण्डित, पुरोहित इत्यादि होते है। वर्ण-व्यवस्था इन्ही को ब्राह्मण कहती थी। जीवन की आवश्यक वस्तुए तो इनको भी चाहिए और समाज को इसके लिए व्यवस्था भी करनी चाहिए। किन्तु इनके लिए अधिक धन की आवश्यकता नही होनी चाहिए। इनको समाज मे सबसे अधिक सम्मान मिलना चाहिए। इनका इष्ट होना चाहिए प्रतिष्ठा, सम्मान।

कुछ स्वभावत. प्रबन्ध, कार्य-सचालन, प्रशासन, रक्षाकार्य के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। आवश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त इनको अधिकार अधिक मिलना चाहिए। बिना अधिकार के शासन और कार्य-सचालन असम्भव है। वर्ण-व्यवस्था इन्ही को क्षत्रिय कहती थी।

कुछ स्वभावत उद्योग के लिए, व्यापार के लिए अधिक उपयुक्त होते है। देश का उद्योग और व्यापार इनको सौंपना चाहिए। व्यापार के लिए इनको औरो की अपेक्षा धन की, पूजी की अधिक आवश्यकता होगी। वर्ण-व्यवस्था इन्ही को वैश्य कहती थी।

कुछ ऐसे होते है जो शारीरिक श्रम के अतिरिक्त समाज को और कोई योगदान नही दे सकते। इन्ही को वर्ण-व्यवस्था श्रमिक अथवा शूद्र कहती थी।

आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त इनके लिए खेल कूद, विनोद-मनोरञ्जन अधिक चाहिए।

डाक्टर भगवान्दास का कहना है कि भारत के समाज की व्यवस्था इसी आधार पर सफलतापूर्वक 2000 वर्ष चली। इसका ह्रास इस कारण हो गया कि वर्ण-व्यवस्था कर्मणा न रह कर जन्मना हो गयी। दूसरे वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच का भाव घुस गया। जब वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर चलने लगी तो ऊँच नीच का भाव बढ़ने लगा। सिद्धान्ततः वर्ण-व्यवस्था समाज के अङ्गाङ्गि भाव (organismic conception) पर प्रतिष्ठित है। भारतीय समाज में वर्ग संघर्ष का भाव नहीं था। वर्ग-सहयोग का भाव था। आज जब कि केवल धन, अथवा अर्थ ही एक मात्र इष्ट रह गया है तो समाज में वर्ग-संघर्ष का भाव घुस गया है। उनका विश्वास है कि यदि कर्मणा वर्ण-व्यवस्था स्थापित की जाय, तो संसार भर में बिना संघर्ष के समाज की व्यवस्था हो सकती है।

Urwick ने *The Message of Plato* नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध किया है कि प्लेटो की भी इसी प्रकार की अवधारणा थी जिसके लिए वह भारत के ऋणी थे। उसी ग्रन्थ में Urwick ने डा० भगवान्दास के विचारों की प्रशंसा की है।

समीक्षा

भगवान्दास एक बहुत ही प्रतिभाशाली चिन्तक थे। उनके चिन्तन में पर्याप्त नवीनता है, स्वकीयता है। वह किसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नहीं रहे। कदाचित् इसीलिए जो मान्यता उन्हें मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली।

फिख्टे ने जिस तथ्य को तीन क्रमों में रखा है उसे भगवान्दास ने एक महा-वाक्य में रखा है। वेदान्त ने अध्यारोपापवाद का जगत् के मिथ्यात्व को समझाने के लिए उपयोग किया है। भगवान्दास ने इसका उपयोग एक साथ ही सृष्टि-प्रक्रिया और मिथ्यात्व दोनों को दर्शाने के लिए किया है। 'ओम्' के मर्म का प्रतिपादन भी उनका निराला है। इन सब में उनके स्वकीय चिन्तन की झलक मिलती है।

उन्होंने 'ओम्' का जो विश्लेषण किया है वह किसी भी प्रचलित शास्त्र द्वारा समर्थित नहीं है। उन्होंने पण्डित धनराज द्वारा लिखवाये हुए ग्रन्थ 'प्रणववाद' में इसके उल्लेख का समर्थन पाया है। किन्तु यह कहना कठिन है कि 'प्रणववाद' वास्तव में कोई प्राचीन ग्रन्थ था या पण्डित धनराज की कल्पना का परिणाम था।

'अहं' से जो सृष्टि प्रक्रिया शैवागम द्वारा प्रतिपादित हुई है उसका भगवान्दास की प्रक्रिया से कुछ-कुछ साम्य है और बहुत कुछ वैषम्य भी है। भगवान्दास ने इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया है। जान पड़ता है कि उनको

इसे पढने का अवकाश नहीं मिला। यदि वह दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते तो उनके दर्शन की बहुत सी गुत्थियां सुलझ जाती।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

DAS, BHAGAVANA: *The Science of Peace.*
——, *The Sceiuce of Emotion.*
——, *The Science of Self.*
——, *The Science of Social Organization.*

3. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, 1888-1975

[परमतत्त्व और ईश्वर; भूतवस्तु; जीवन और चित्त, आत्मचेतना; बुद्धि और अन्तःप्रज्ञा; आत्मतत्त्व; जीवात्मा और उसकी नियति; समीक्षा।]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का जन्म दक्षिण भारत में तिरतनी में 1888 में हुआ था। इन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय से दर्शन में एम०ए० किया। कई विश्वविद्यालयों से इनको मानद डी०लिट्० की उपाधि मिली। यह महाराज कालेज, मैसूर मे दर्शन के प्रोफेसर रहे। उसके अनन्तर यह कलकत्ता विश्वविद्यालय मे George V Professor of Mental and Moral Philosophy रहे। फिर यह आक्सफोर्ड में Spalding Professor of Eastern Religion and Ethics रहे। ब्रिटिश अकेडेमी के फैलो चुने गये, वालटेयर विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस के कुलपति रहे, Unesco General Conference के President रहे, रूस मे भारत के राजदूत (1949-52) रहे। भारत के वाइस-प्रेजीडेण्ट (1952-62) और प्रेजीडेण्ट (1962-67) रहे।

इनको 1975 में टेम्पलटन पुरस्कार मिला और उसी वर्ष इनका निधन हुआ। इन्होने कई ग्रन्थ लिखे जिनमे मुख्य निम्नलिखित हैं: *Indian Philosophy* 2 Vols; *The Brahmasutras; The Bhagavadgita; The Principal Upanishadas; The Philosophy of Ravindranath Tagoro, The Reign of Religion in Contemporary Philosophy; East and West; The Hindu View of Life; Recovery of Faith; East and West in Religion; Religion and Society; Eastern Religions and Western Thought; The Dhammapada; An Idealist View of Life.*

इन्होंने पाश्चात्य और भारतीय दोनों दर्शनों का गहरा अध्ययन किया था। भारतीय दर्शनों में इनके ऊपर वेदान्त का और पाश्चात्य दर्शनों में प्लेटो और हीगल का गहरा प्रभाव था। धर्म, आत्मा और जीवन पर इन्होंने पर्याप्त विचार किया है। यह उच्च कोटि के वाग्मी और प्रभावशाली लेखक थे। इनके दर्शन का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :

परमतत्त्व (The Absolute) और ईश्वर (God)

परमतत्त्व या ब्रह्म सम्पूर्ण सत् है। वह शुद्ध चैतन्य है जो कि विश्वानुग (immanent) भी है और विश्वातिग (transcendent) भी है। विश्व उस शुद्ध चैतन्य की काल में अभिव्यक्ति है। निरपेक्ष परमतत्त्व विश्व से परे है। वह सब सत्ताओं, सब विशेषों का अधिष्ठान होते हुए भी स्वयं निर्विशेष है। विश्व परमतत्त्व के स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है। वह विश्व का न्यायसिद्ध अग्र (logical prius) है (सदेव सौम्य इद अग्र आसीत्)।

जब हम परमतत्त्व को विश्व के अधिष्ठान के रूप में देखते हैं तब उसकी संज्ञा ईश्वर होती है। परमतत्त्व वह सच्चिदानन्द (सत्, चित् और आनन्द) है जिसमें अनन्त सम्भावनाएं हैं। जब उसकी अनन्त सम्भावनाओं में एक सम्भावना का जगत् के रूप में वास्तवीकरण (actualization) होता है तब हम उसे ईश्वर कहते हैं। परमतत्त्व अपने परम रूप में निर्वैयक्तिक (impersonal) है, किन्तु, स्रष्टा के रूप में वह ईश्वर और वैयक्तिक (personal) है। किसी परिवेश के सम्बन्ध में ही व्यक्तित्व सार्थक होता है। ईश्वर का भी व्यक्तित्व जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में ही सार्थक होता है। जगत् के व्यक्तीकरण से ही उसका व्यक्तित्व है। ससीम जगत् का असीम परमतत्त्व से कोई विरोध नहीं है। केवल ससीम या सान्त असीम या अनन्त का असख्य सम्भावनाओं का एक सान्त वास्तवीकरण है। अनन्त की सम्भावना का, एक सान्त वास्तवीकरण का कारण मानव के लिए एक रहस्य ही बना रहेगा। यह उसकी वह मायाशक्ति है जिसे हमें नतमस्तक स्वीकार करना होगा।

ईश्वर निरपेक्ष परमतत्त्व से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। जब हम परमतत्त्व को विश्व के व्यक्तीकरण के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो परमतत्त्व ईश्वर के नाम से अभिहित होता है और परम सत्य, शिव और सुन्दर के रूप में जाना जाता है। वह ईश्वर विश्व का सृष्टिकारक है जिसकी चेतना में देश-काल में व्यक्त होने वाले विश्व की पूरी योजना विद्यमान है।

परब्रह्म ईश्वर के विश्व सर्जन का पूर्वरूप है और विश्व-सर्जन की दृष्टिभंगि से परब्रह्म ईश्वर है।

परमतत्त्व या परब्रह्म काल से परे है। सृष्टि से ही काल प्रारम्भ होता है।

विश्व की घटनाएं काल के अन्तर्गत है।

भूतवस्तु में जीवन का आविर्भाव, जीवन मे चेतना का आविर्भाव, और मनुष्य के स्तर पर आत्मचेतना का आविर्भाव वे विवर्तन है जिनके द्वारा ईश्वर की विश्व मे अभिव्यक्ति होती है और परब्रह्म मे सत्यं, शिवं, सुन्दरं के जो आदर्श सम्भावना के रूप में विद्यमान रहते है वे विश्व मे साकार हो उठते है।

भूतवस्तु (Matter), जीवन (Life) और चित्त (Mind)

पहले भूतवस्तु (matter) एक स्थायी द्रव्य (substance) समझी जाती थी। अब विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि भूतवस्तु एक वैद्युत शक्ति है। राधाकृष्णन् इस मत के समर्थक है। उनका कहना है कि भूतवस्तु की इस अवधारणा से दो निष्कर्ष निकलते है: (1) भूतवस्तु गतिशील है। (2) सारा भौतिक जगत् परस्पर सम्बद्ध संहति है। भूतपदार्थ देश, काल और द्रष्टा से सर्वथा अलग नही किया जा सकता। ठोस तथ्य तो यह है कि वस्तुस्थिति घटनाओं का एक समुच्चय है जिसके देश, काल, भूतवस्तु अंग हैं, जो एक दूसरे से पृथक् नही किये जा सकते। इनका पृथक्करण कल्पित है।

किन्तु भौतिक जगत् मे जो परिवर्तन और सातत्य दृष्टिगोचर होता है उसके रहस्य को भौतिक विज्ञान नही समझा पाता। भूतवस्तु के विभिन्न स्तरों पर जो एक नवीन संघटनात्मकता है वह विज्ञान की समझ के बाहर है।

जीवन—अजैव जड पदार्थ में जो सर्जनात्मकता है वह जैव पदार्थों यथा वनस्पति और पशुओ मे और अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। व्यवस्था, प्रगति, सातत्य और परस्पर सम्बद्धता जैव पदार्थो में अधिक निश्चित और सुस्पष्ट है। जैव पदार्थों में संघटना की एक स्पष्ट व्यवस्था प्रतीत होती है। प्राण के आविर्भाव से जो पाच्यता, समीकरणीयता, श्वास-प्रश्वास-क्रिया, जनन और संवर्धन की विशेषताएं सामने आती हैं वे इस बात को स्पष्ट कर देती है कि जैव पदार्थ अजैव पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जीवन की ये विशेषताएं भौतिक परमाणुओं की क्रियाशीलता द्वारा नही समझायी जा सकती। स्पष्ट है कि जीवन भूतवस्तु से एक उच्चतर स्तर का तथ्य है। जैव-शास्त्र इन विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, जीवन के विवर्तन का वर्णन करता है, किन्तु जीवन में इन विशेषताओं का विकास क्यों होता है—इस रहस्य को वह बिलकुल नही समझा सकता।

चित्त—चेतना—चित्त या चेतना जीवन से भी उच्चतर स्तर का विकास है। चिन्तन वेदन, चेष्टन जो चेतना की विशेषताए है वे भूतवस्तु और जीवन से इतनी भिन्न है कि उनकी व्याख्या भौतिक विज्ञान (physics) और जैवविज्ञान (biology) के शब्दो मे नही हो सकती। यद्यपि मस्तिष्क की नाडियों और ज्ञान-

सिक क्रियाओ मे गहरा सम्बन्ध है तथापि नाडी का स्पन्दन चिन्तन नही है। जैसे देखने के लिए आख की आवश्यकता होती है, देखना आख नही है। आख केवल देखने का माध्यम है। देखने मे अवधान की आवश्यकता होती है जो कि सवथा एक मानसिक क्रिया है। इसके अतिरिक्त दृष्टिपटल (retina) पर किसी भी पदार्थ की प्रतिच्छाया उलटी पडती है, किन्तु हम पदार्थ को देखते है सीधा। क्या इस रहस्य को किसी भी भौतिक नियम के द्वारा समझाया जा सकता है? मस्तिष्क की नाडिया मानसिक क्रिया का भौतिक माध्यम मात्र है।

व्यवहारवादी (behaviourist) चेतना को शारीरिक प्रतिचार (organic response) मात्र समझता है। वह बेचारा यह नही समझ पाता कि मानसिक भाव और शारीरिक प्रतिचार एक वस्तु नही है और न शारीरिक क्रियाए और व्यवहार एक है। जिसका बाहर से प्रत्यक्ष किया जा सकता है वह शरीर का सचलन मात्र है, व्यवहार नही है। बौद्धिक कार्य औपाधिक परिवर्त (conditioned reflex) नही है। जैसे एक प्राणवान् शरीर भौतिक पदार्थ से उच्चतर स्तर की वस्तु है, उसी प्रकार चेतना जीवन से एक उच्चतर स्तर की वस्तु है। मानसिक क्रिया भौतिक या शारीरिक क्रिया नही है।

आत्मचेतना (Self Consciousness)

आत्मचेतना चेतना मात्र से एक उच्चतर स्तर की वस्तु है। आत्मचेतना विमर्शात्मक होती है। आत्मचेतना वह है जहा चेतना अपने को चेतने लग जाती है और 'अह' को समझने का प्रयत्न करती है। यह शिशु और पशु की चेतना से भिन्न होती है जिनमे विमर्श नही है।

मनुष्य पशु का एक परिवर्धित सस्करण नही है। वह अपने विमर्श द्वारा पशु से सर्वथा भिन्न है।

भूतवस्तु, जीवन, चेतना और आत्मचेतना के तुलनात्मक अध्ययन स राधाकृष्णन् इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि एक आध्यात्मिक शक्ति इन स्तरो के द्वारा क्रमश अपनी अधिक और अधिकतर अभिव्यक्ति करती हुई एक चरम लक्ष्य की ओर प्रयाण कर रही है।

बुद्धि और अन्त प्रज्ञा (Intellect and Intuition)

राधाकृष्णन् ने *An Idealist View of Life* म बतलाया है कि सत्य को जानने के तीन प्रकार है—प्रत्यक्ष (sense experience), तर्क (discursive reasoning) और प्रज्ञात्मक बोध (intuitive apprehension)

प्रत्यक्ष से हम जगत् के केवल इन्द्रियग्राह्य गुणो को जान सकते है। तर्क से हम परोक्ष रूप से व्यवहित रूप से, प्रत्ययो और प्रतीको द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते

हैं। किन्तु प्रत्यक्ष और तर्क के द्वारा सत्य का अव्यवहित (immediate) बोध, अपरोक्षानुभूति, अन्तर्दृष्टि नही हो सकती। अन्तःप्रज्ञा (intuition) के द्वारा हम सत्य का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उसकी अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। हम चिन्तन से सत्य के भीतर नही प्रवेश कर सकते। सत्य को जानने के लिए सत्य हो जाना पड़ेगा, सत्य से तादात्म्य स्थापित करना पड़ेगा। यह अन्त.प्रज्ञा के द्वारा ही सम्भव है।

अन्तःप्रज्ञा अव्यवहित बोध है, अपरोक्ष अनुभूति है। इसमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। अन्तःप्रज्ञात्मक बोध ज्ञाता और ज्ञेय के तादात्म्य से ही होता है। अन्त प्रज्ञा मे चिन्तन, वेदन और चेष्टन (thought, feeling and will) सिमट कर एक हो जाते हैं। इसमे मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व कार्यशील हो उठता है। यह बौद्धिक प्रयास से भिन्न है।

कुछ लोग समझते हैं कि अन्त प्रज्ञा कल्पना मात्र है। किन्तु अन्त.प्रज्ञा और कल्पना मे भेद है। कल्पना केवल एक मानसिक क्रिया है। उससे पदार्थ या सत्य की उपलब्धि नही हो सकती। किन्तु अन्तःप्रज्ञा सत्य की उपलब्धि है। जैसे प्रत्यक्ष के द्वारा हम 'घट', 'पट' को साक्षात् रूप से देख लेते हैं, और उसके विषय मे कोई संशय नही रह जाता, वैसे ही अन्त प्रज्ञा द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है और फिर कोई संशय शेष नही रह जाता। अन्त प्रज्ञा न कल्पना है, न कृत्रिम अन्धविश्वास। वह सत्य का आविष्कार या प्रकटीकरण है। अन्त प्रज्ञा द्वारा हम अन्तरात्मा की आखो से सत्य के सुन्दर मुख को देखते हैं। अन्त प्रज्ञा इन्द्रियातीत विषयो का प्रत्यक्षीकरण है।

अन्त.प्रज्ञा बौद्धिक ज्ञान से भिन्न होती है। बौद्धिक ज्ञान केवल बुद्धि की क्रिया द्वारा होता है, किन्तु अन्त.प्रज्ञा मे बुद्धि, भाव और समीहा सभी संयुक्त रूप मे काम करते हैं। अन्त.प्रज्ञा मे मानव का समस्त व्यक्तित्व क्रियाशील हो उठता है।

बौद्धिक प्रत्यय जीवन के लिए उपयोगी होता है, किन्तु सत्य का दर्शन उसके भाग्य मे नही है। प्रत्यय तो एक विविक्त विचारणा (abstraction) है, वह सम्पूर्ण सत्य को नही पकड़ पाता। अन्त.प्रज्ञा सम्पूर्ण सत्य का आलिंगन करती है। बौद्धिक ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है। अन्त प्रज्ञा मे यह द्वैत समाप्त हो जाता है। बौद्धिक ज्ञान मे संशय, तर्क और विवाद का अवकाश रह जाता है। अन्त.प्रज्ञात्मक बोध निःसंशय होता है। उसमे तर्क और विवाद का अवकाश नही रह जाता। अन्तःप्रज्ञा मे अस्तित्व स्वयं सचेतन हो उठता है। अस्तित्व प्रत्ययो के घेरे मे नही रहना चाहता।

अन्त प्रज्ञा बौद्धिक ज्ञान का विरोधी नही है। वह बौद्धिक ज्ञान से परे है, परन्तु विरुद्ध नही। वह बौद्धिक ज्ञान की अपूर्णता को पूर्णता मे, उसकी एकांगीयता

की सर्वांगीणता में, उसके क्षोभ को शान्ति में, उसके विवाद को संवाद में परिणत करती है।

कला, साहित्य और दर्शन में जो कुछ उत्कृष्ट रूप से व्यक्त हुआ है वह सब अन्त प्रज्ञा का ही परिदान है।

स्वसंवित्ति (self consciousness), आत्मचेतना तो अन्त प्रज्ञा ही के द्वारा सम्भव होती है। आत्मचेतना प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का आधार है। और आत्म-चेतना न तो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और न तर्क का फल है। यह केवल अन्त प्रज्ञात्मक बोध है। यह नि संशय बोध है। इसके बिना संशय भी सम्भव नहीं है। जैसा कि शकराचार्य ने कहा है—'य एव निराकर्ता तस्यैव आत्मत्वप्रसगात्' अर्थात् जो आत्मा का निराकरण करता है, वह उसी निराकरण में ही उसकी परिपुष्टि करता है, क्योंकि उस आत्मा के बिना निराकरण भी सम्भव नहीं है।" आत्मा के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह स्वय सब प्रमाणों का आधार है। आत्मा प्रत्येक ज्ञान में निहित है। प्रत्यय द्वारा जिस 'मैं' या आत्मा की हम उद्भावना करते हैं, उससे वास्तविक आत्मा भिन्न है। वास्तविक आत्मा की अन्त प्रज्ञा द्वारा अपरोक्ष अनुभूति होती है।

आत्मतत्त्व (Spirit)

कुछ पाश्चात्य विद्वान् जैसे लॉक और कुछ भारतीय दर्शन जैसे न्याय आत्मा को द्रव्य मानते हैं। राधाकृष्णन् आत्मा को द्रव्य नहीं मानते। आत्मा सब सत्ता का अधिष्ठान है। वह न तो अन्नमय (भौतिक), न प्राणमय, न मनोमय, न विज्ञानमय है, प्रत्युत इन सभी का आधारतत्त्व है। परमतत्त्व, ईश्वर और आत्मा सभी एक व्यापक तत्त्व के भिन्न भिन्न दृष्टियों से भिन्न भिन्न नाम हैं। मानव में आत्मतत्त्व प्रमाता के रूप में प्रकट होता है, सृष्टि के सन्दर्भ में ईश्वर के रूप में, और सभी सम्भावनाओं के अधिष्ठान के सन्दर्भ में परमतत्त्व के रूप में।

जीवात्मा (Human Self) और उसकी नियति

मानव में जीवात्मा एक व्यवस्थित समग्रता (organized whole) है। व्यक्तित्व (personality) वह भिन्न भिन्न भूमिका है जो जीवात्मा जीवन-नाटक में प्रदर्शित करता है। जीवात्मा अपनी व्यवस्थित समग्रता में सारभूत प्रमाता से भिन्न है। उसकी व्यवस्थित समग्रता मनोविज्ञान का विषय है उसका प्रमातृत्व तत्त्वदर्शन का विषय है। वेदान्त के शब्दों में जीवात्मा उपहित चैतन्य है आत्मा शुद्ध साक्षिचैतन्य है। जीवात्मा में ग्राहक ग्राह्य, प्रमाता प्रमेय का द्वैत सम्बन्ध बना रहता है। शुद्धात्मा इस सम्बन्ध से परे है। उससे भिन्न या पृथक् कुछ है ही नहीं जिससे उसका सम्बन्ध जोड़ा जाय।

जीवात्मा का शुभ कर्मो द्वारा कई जन्म मे विकास होता है। किन्तु केवल नैतिक जीवन पूर्ण धार्मिक चेतना नही है। राधाकृष्णन् ने धार्मिक चेतना (religious consciousness) पर बहुत बल दिया है। उनके कई ग्रन्थो मे इसका विस्तृत वर्णन है। आधुनिक दार्शनिको मे से सम्भवत किसी अन्य चिन्तक ने धार्मिक चेतना का इतना विशद वर्णन नही किया है जितना कि राधाकृष्णन् ने।

उनका कहना है कि वास्तविक धर्म परमतत्त्व के अनुभव से जीता जागता सम्पर्क है। योग ही धर्म का चरम लक्षण है। प्रभु से मिलन, प्रभु से योग ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य और नियति है।

वास्तविक धार्मिक चेतना वह अनुभव है जिसमे प्रमाता-प्रमेय का भाव विगलित हो जाता है और जीवात्मा की पूर्णता सम्पन्न हो जाती है, सभी सीमा-रेखाओं का भग हो जाता है और सभी भेद का अतिक्रमण हो जाता है, काल अकाल मे परिणत हो जाता है, सत् और चित् एक हो जाते हैं व्यक्तित्व की एकान्तता समाप्त हो जाती है और जीवात्मा परमात्मा की व्यापक चेतना मे लीन हो जाता है।

यही अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा ही मुक्ति है। यही मानव जीवन का चरम उत्कर्ष है। यही उसकी भव्य नियति है।

मुक्ति मे काल की गति समाप्त हो जाती है। यह पूर्ण आत्मिक नियति नैतिक जीवन का विस्तार मात्र नही है। एक नवीन आयाम है जिसमे सघर्ष शान्ति मे और दु ख शाश्वत आनन्द मे परिणत हो जाता है। जीवात्मा मे सर्वात्मभाव उद्भूत हो जाता है। उसकी दीर्घ यात्रा समाप्त हो जाती है और वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुच जाता है।

समीक्षा

राधाकृष्णन् ने भारतीय चिन्तन का बहुत ही विशद वर्णन किया है। परन्तु उन्होने शाकर वेदान्त के प्रभाव से परमतत्त्व मे केवल चित् और आनन्द ही माना है। उसमे इच्छा और क्रिया को नही माना है। बिना स्वातन्त्र्य—अर्थात् इच्छा और क्रिया माने हुए विश्व की अभिव्यक्ति एक टेढी खीर हो जाती है।

उन्होंने लायड मार्गन, अलेक्जेंडर और ह्वाइटहेड के विवर्तन के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन किया है, किन्तु श्री अरविन्द के विवर्तन के सिद्धान्त का उन्होंने उल्लेख तक भी नही किया श्री अरविन्द घोष ने भारतीय चिन्तन को ही नही, विश्वचिन्तन तक को अपने दर्शन द्वारा एक नया परिदान दिया है। श्री अरविन्द घोष के सिद्धान्त से कुछ कुछ मिलता-जुलता फ्रान्सीसी चिन्तक शार्दा का भी उल्लेख राधाकृष्णन् ने नही किया है। लगभग 1949 से 1967 तक वह राजनीति के क्षेत्र मे कार्य करते रहे। जान पडता है उनको इन विद्वानो के ग्रन्थों को पढने का अवसर नही मिला।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

RADHAKRISHNAN, S., *The Reign of Religion in Contemporary Philosophy*
——, *The Hindu View of Life*
——, *Eastern Religions and Western Thought*
——, *An Idealist View of Life*

4 पण्डित गोपीनाथ कविराज, 1887-1976

[प्रभाव, परमतत्त्व, सृष्टि का रहस्य, विवर्तन का सिद्धांत, साधना]

महामहोपाध्याय डाक्टर गोपीनाथ कविराज भारतीय दर्शन और साधना के एक अपूर्व उदाहरण हुए हैं। उन्होंने अपने निबन्ध मुख्यतः हिन्दी और बंगला भाषा में लिखे हैं। इसीलिए उनको वे लोग नहीं जान पाये जो इन भाषाओं को नहीं समझते।

उनका जन्म ढाका जिले के धामराई गांव में ७ सितम्बर, 1887 ई० में हुआ। उनके पिता बैकुण्ठनाथ का अपने पुत्र के जन्म के पांच महीने पहले ही निधन हो गया। उनके पिता के मामा काठालिया निवासी कालाचन्द सान्याल की देख-रेख में उनका लालन-पालन हुआ। गोपीनाथ की प्रारम्भिक शिक्षा काठालिया के प्राइमरी स्कूल में हुई। धामराई में उनकी माध्यमिक शिक्षा हुई। उनकी उच्चतर माध्यमिक शिक्षा ढाका में हुई। महाराजा कालेज, जयपुर में इन्होंने एफ० ए० और बी० ए० किया। उनकी स्नातकोत्तर शिक्षा क्वीन्स कालेज, बनारस में हुई। यहीं से उन्होंने प्रथम श्रेणी में संस्कृत में एम० ए० किया। डॉ० वेनिस उस समय क्वीन्स कालेज के प्रिंसिपल थे। उनसे उन्होंने पुरालेख विद्या (epigraphy) सीखी और प्रो० नार्मन से उन्होंने पाली, प्राकृत, फ्रेन्च और जर्मन सीखी। 1914 में क्वीन्स कालेज में सम्बद्ध सरस्वती भवन के अध्यक्ष पद पर उनकी नियुक्ति हुई। यहां उन्होंने कई प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया और अंग्रेजी में कई निबन्ध लिखे जो 'सरस्वती भवन टेक्स्ट्स' के नाम से प्रकाशित हुए। 1924 में यह गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त हुए। 1937 में यह कालपूर्व कार्यनिवृत्त हो गये और साधना में रत हो गये। 1969 से इनका स्वास्थ्य बिगड़ता गया और 1976 में इनका निधन हो गया।

इनके मुख्य ग्रन्थ अधोलिखित हैं

बंगला में—तंत्र ओ आगमशास्त्रेर दिग्दर्शन; भारतीय साधनार धारा; तान्त्रिक सिद्धान्त ओ साधना।
हिन्दी में—तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि; भारतीय संस्कृति और साधना—2 खण्ड।
अंग्रेजी में—*Sarasvati Bhavan Studies*—10 Vols.

प्रभाव

कविराज जी में अद्भुत प्रतिभा थी। उन्होंने उपनिषद्, न्यायवैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, गीता, शैवागम, शाक्तागम, वैष्णवागम, बौद्ध दर्शन और योग, जैन दर्शन और योग, सूफीदर्शन और योग, और ईसाई दर्शन और योग का गहरा अध्ययन किया था, किन्तु उनके ऊपर विशेष प्रभाव अद्वैत शैवागम, शाक्त आगम और वैष्णव आगम का था।

योग में उनकी दीक्षा प्रसिद्ध महायोगी स्वामी विशुद्धानन्द द्वारा हुई थी। कविराज जी योग में बहुत सिद्ध हो गये थे। उनके बहुत कुछ दार्शनिक सिद्धान्त उनकी योगजन्य अनुभूति पर प्रतिष्ठित हैं।

परमतत्त्व

परमतत्त्व विश्वातीत और विश्वमय दोनों है। वह प्रकाश-विमर्शमय है। शांकर वेदान्त परमतत्त्व को केवल प्रकाश मानता है। इसीलिए वह ब्रह्म को निष्क्रिय समझता है और इसीलिए वह मायोपहित चैतन्य को सृष्टि का कारण समझता है। परमतत्त्व पूर्ण 'अहं' है जो कि केवल चित् नहीं है, जो चित्-शक्ति है, जो स्वातन्त्र्यपूर्ण चित् है। उसकी अहंचेतना ही शक्ति है, स्वातन्त्र्य है। इसी से सृष्टि होती है।

उनकी यह धारणा थी कि विश्व शिव या प्रभु से भिन्न या पृथक् नहीं है। विश्व शिव की शक्ति की ही अभिव्यक्ति है। उन्होंने अपनी साधना में यह अनुभव किया कि शुद्ध विद्या के उदय होने पर जगत् की जो आत्मा से भिन्न प्रतीति है वह धीरे-धीरे चली जाती है और जगत् आत्मा की ही एक अवस्थिति प्रतीत होने लगता है। आत्मा ही द्रष्टा और दृश्य, प्रमाता और प्रमेय दोनों है। द्रष्टा के रूप में वह आत्मा है, दृश्य के रूप में आत्मशक्ति है। ज्ञान ही ज्ञेय के रूप में प्रतीत होता है। "ज्ञान ज्ञेयरूपेण अवभासते।"

सृष्टि का रहस्य

उपनिषद् की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है "आनन्दाद्धि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।" अर्थात् आनन्द से ही सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

प्रभु की अनन्त शक्तिया हैं, किन्तु उनमे पाच शक्तिया प्रधान हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया। इनम से चित् और आनन्दशक्ति अन्तरग है, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति बहिरग। सृष्टि की आवश्यकता होने पर इच्छा आनन्द-शक्ति का अवलम्बन करके बीजरूपेण अपने विषय का रूप धारण कर लेती है। उसके बाद ज्ञानात्मक विषय क्रियाशक्ति मे प्रकट होता है और विषय बाह्यरूप धारण कर लेता है। यह बाह्य सृष्टि दृष्टिगोचर है। सृष्टि का तिरोभाव क्रिया-शक्ति को ज्ञानशक्ति म ले जाने से होता है। फिर यह प्रक्रिया ज्ञान से इच्छा मे और इच्छा से आनन्द मे होती है।

प्रभु की एक बहिरगा शक्ति माया है। माया, महामाया और योगमाया मे भेद है। योगमाया चित् शक्ति है। यह विशुद्धस्वरूपा है। महामाया माया से ऊपर की शक्ति है। माया के नीचे प्रकृति है। प्रभु की अचित् शक्ति के तीन प्ररूप हैं—महामाया, माया और प्रकृति। किसी-किसी ग्रन्थ मे माया और प्रकृति को एक मान लिया है, किन्तु वस्तुत इनमे भेद है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। माया निगुणात्मिका नही है। वह अचित् है। त्रिगुण से भिन्न है, किन्तु मलिन है। शुद्ध विद्या के अनन्तर माया का कार्य प्रारम्भ होता है। माया के द्वारा सकोच प्रारम्भ हो जाता है। माया आत्मा पर आवरण डाल देती है जिससे आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। माया विभेद बुद्धि उत्पन्न करती है। माया के पाच कञ्चुक है—कला जिसके कारण सर्वकर्तृत्व का सकोच हो जाता है, विद्या जिसके कारण सर्वज्ञत्व का सकोच हो जाता है, राग जिसके कारण पूर्णत्व का सकोच हो जाता है, काल जिसके कारण नित्यत्व का सकोच हो जाता है और नियति जिसके कारण स्वतन्त्रता और व्यापकत्व का सकोच हो जाता है।

कविराज जी अद्वैत शैवागम के अनुसार ही सृष्टि की प्रक्रिया मानते हैं। परमेश्वर प्रकाशविमर्शमय है। इसका यह अर्थ है कि परमेश्वर वह प्रकाश है जिसम अहबोध है। इसी अहबोध को विमर्श कहते हैं। इसी विमर्श शक्ति से सब सृष्टि होती है। इसी विमर्श को पराशक्ति, परावाक्, स्वातत्र्य, ऐश्वर्य, कर्तृत्व, स्पन्द इत्यादि भी कहते हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया म पहले शिव और शक्ति तत्त्व प्रादुर्भूत होते हैं। उसके बाद सदाशिव, ईश्वर तत्त्व, और शुद्ध विद्या का उदय होता है। यहा तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा कहलाती है अर्थात् यहा तक स्वरूप पर कोई आवरण नही पडा है।

इसके बाद अशुद्ध अध्वा की प्रक्रिया माया के द्वारा प्रारम्भ होती है। इसमे सकोच हो जाता है और स्वरूप पर आवरण पड जाता है। माया के अनन्तर पुरुष और प्रकृति का प्रादुर्भाव होता है। प्रकृति के द्वारा बुद्धि अहकार, मनस् की अभिव्यक्ति होती है। अहकार के द्वारा पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया और पाच तन्मात्राए उत्पन्न होती हैं और पाच तन्मात्राओ से पचमहाभूत की उत्पत्ति

होती है।

विवर्तन (Evolution) का सिद्धान्त

कविराज जी के अनुसार विवर्तन के तीन मुख्य क्रम है। पहला क्रम वह है जिसमे चिद्रूप आत्मा अचिद्रूप प्रकृति से संयुक्त हो जाता है और उसका क्रमिक विकास प्रारम्भ होता है। पहले आकृति का विकास होता है, फिर प्राण का। वनस्पति क्षेत्र में प्राण का विकास प्रारम्भ हो जाता है। एक बहुत ही अपरिपक्व अवस्था में वेदन का प्रारम्भ हो जाता है। पशु मे प्राण और मन का पूर्व से कुछ अधिक विकास होता है। मन का परिपक्व विकास मानव योनि मे होता है। मानव में शरीर, प्राण और मन का पर्याप्त विकास हो गया है, किन्तु अभी उसमे मन से जो उच्चतर विज्ञान है वह विकसित नही हुआ है।

मन के विकास से मानव मे विवेक का प्रादुर्भाव होता है। विवेक के प्रादुर्भाव से मानव मे नैतिक जीवन प्रारम्भ होता है। पशु-पक्षी में नैतिकता का भाव नही है क्योकि उनमे विवेक नही है। मनुष्य जब कर्म करता है तो कर्म के प्रवर्तक रूप में उसमे कर्तृत्वाभिमान रहता है। अतः उसे कर्म का सुख-दुःख रूप फल का भोग करना पड़ता है। मानव योनि मे आत्मा कर्ता और भोक्ता बनता है। मानव योनि का चरम उद्देश्य है भगवद् भाव की प्राप्ति।

पशुभाव से साक्षात् भगवद्भाव का विकास होना सम्भव नही है। स्वकृत कर्म के फल को भोग करने के लिए मानव को पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जब तक उसमे कर्तृत्वाभिमान विगलित नही हो जाता तब तक उसे फलभोग करना ही पड़ता है। जब कर्तृत्वाभिमान चला जाता है तब वह नैतिक जीवन से ऊपर के स्तर आध्यात्मिक जीवन (spiritual life) मे प्रवेश करता है। मानव के विकास का यह प्रथम क्रम है।

इसके अनन्तर मानव के विकास का दूसरा क्रम प्रारम्भ होता है। इसका उद्देश्य होता है भगवद्भाव की प्राप्ति। इसमें पहले इष्टत्व का पूर्ण परिवर्तन (complete change of values) होता है। अर्थ, पद, अधिकार, मान इत्यादि का आकर्षण छूट जाता है। वास्तविक आत्मा की प्रत्यभिज्ञा और प्रभु का प्रेम ही उसके जीवन का ध्येय बन जाता है। इसके पूर्ण विकास होने पर व्यक्ति मे भगवद्भाव की उत्पत्ति होती है। वह ब्रह्म से अपना तादात्म्य समझने लगता है। धीरे-धीरे भगवद्भाव स्थायी हो जाता है।

अन्तिम क्रम वह होता है जब जीव भगवद्भाव प्राप्त करके भागवत जीवन व्यतीत करता है।

विवर्तन क्रम में पहली सीढी वह है जब जड़भाव का त्याग हो जाता है और मनुष्य भाव की प्राप्ति होती है। दूसरी सीढी वह है जब मनुष्य भाव मे उठकर

जीव भगवद्भाव को प्राप्त करता है। अन्तिम सीढ़ी वह है जब भगवद्भाव के अनन्त वैचित्र्य का सन्धान मिलता है।

साधना

कविराज जी के अनुसार साधना के दो मार्ग हैं—विवेक मार्ग और योग मार्ग। विवेक मार्ग वह है जिसमें साधक आत्मा को प्रकृति से अथवा माया से विविक्त अर्थात् वियुक्त कर लेता है। यह वियोग अथवा पृथक्त्व का मार्ग है। साख्य-पातञ्जल योग और वेदान्त का यही मार्ग है। विवेक का लक्ष्य है कैवल्य। साख्य-योग यह उपदेश देता है कि पुरुष निषेध द्वारा, क्रियायोग और ध्यान द्वारा अपने को प्रकृति से वियुक्त कर अपने केवल भाव (कैवल्य) को प्राप्त करे। वेदान्त यह उपदेश देता है कि साधक ज्ञान और विचार द्वारा अपने को माया से वियुक्त कर केवल भाव (कैवल्य) को प्राप्त करे। दोनों में समान रूप से बाह्य का त्याग करना पड़ता है। इसीलिए ये दोनों विवेक मार्ग हैं।

योग मार्ग वह है जिसमें बाह्य का त्याग किये बिना उसका रूपान्तर साधन करते हुए उसे भीतर में ले चलना होता है। विवेक मार्ग में ज्ञेय और ज्ञान का परिहार करके प्रकृति अथवा माया से छुटकारा मिलता है और चित्स्वरूप पुरुष अथवा आत्मा में स्थिति होती है। यह पुरुष अथवा आत्मा स्वातन्त्र्यहीन चिन्मात्र है। द्रष्टा या साक्षी का भाव भी इसमें केवल उपचरित है।

कविराज जी का कहना है कि योग मार्ग विवेक मार्ग से अधिक उत्कृष्ट है। इस मार्ग में ज्ञेय अथवा बाह्य पदार्थ की उपेक्षा न करके उसे ज्ञान में परिणत करना होता है। उस दशा में समस्त विश्व दर्पण में दृश्यमान नगरी के समान अपने स्वरूप के अन्तर्गत प्रतीत होता है। शुद्धविद्या के उदय होने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि सब कुछ भीतर में है। शुद्धविद्या के विकास होने पर ज्ञेयरूपेण दृश्यमान बाह्य पदार्थ भीतर ज्ञानरूपेण परिणत हो जाता है। यह ज्ञान पहले साकार रहता है फिर निराकार ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। योग मार्ग का यह प्रथम क्रम है।

साधना के और अधिक दृढ़ होने पर यह ज्ञानराशि ज्ञाता में पर्यवसित होती है। पहले क्रम में ज्ञेय ज्ञान में परिणत होता है। दूसरे क्रम में ज्ञान ज्ञाता में पर्यवसित हो जाता है।

इसके अनन्तर तीसरा क्रम आता है जिसमें ज्ञातृभाव भी समाप्त हो जाता है। एक शुद्ध महाशक्ति रह जाती है। इस दशा में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूपी त्रिपुटी का पूर्ण अवसान हो जाता है। इस स्थिति के दृढ़ होने पर स्वातन्त्र्य शक्ति का विकास होता है। तब शिवशक्ति का सामरस्य हो जाता है। आत्मा में पूर्ण आत्मबोध होता है। यह पूर्णाहन्ता का ज्ञान है। यह सर्वोत्कृष्ट स्थिति है।

कविराज जी ने एक नये प्रकार के योग का अन्वेषण किया है जिसका नाम उन्होंने रखा है 'अखण्ड महायोग ।' इस पर उन्होंने बगला में एक पुस्तक लिखी है जिसका अब हिन्दी में अनुवाद हो गया है। कविराज जी की यह धारणा है कि इस योग द्वारा अनन्त प्रकार के अयुक्त भावों का एक सूत्र में संयोजन होगा। उनका विश्वास है कि इस महायोग से पृथिवी और मानव का रूपान्तरण हो जायेगा। यह योग अत्यन्त दुरूह है और इसके बताने वाले अप्राप्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

KAVIRAJ GOPINATH, *Sarasvati Bhavan Studies*—10 Vols.
, भारतीय संस्कृति और साधना,
, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि।

1. श्री अरविन्द घोष, 1872-1950

[परमतत्त्व; परमतत्त्व और सृष्टि; अतिमानस; अतिमानस और मानस; अतिमानस और अन्त प्रज्ञा; अतिमानस और अधिमानस; चैत्य पुरुष; विवर्तन की प्रक्रिया—अवरोहण-आरोहण; विवर्तन के प्रनियम; वैयक्तिक विवर्तन, विश्वीय विवर्तन, समीक्षा।]

श्री अरविन्द का जन्म कलकत्ता में 15 अगस्त, 1872 को हुआ। वह 5 वर्ष के थे तभी दार्जिलिंग के कान्वेण्ट स्कूल में शिक्षा के लिए भेज दिये गये। 1993 तक वह इगलैण्ड में शिक्षा पाते रहे। वहा उन्होंने अग्रेजी के अतिरिक्त लैटिन, ग्रीक, फ्रेन्च, जर्मन, इटालियन इत्यादि भाषाए सीखी। 1893 में वह भारत लौट आये और बडौदा राज्य की सेवा में रहे। यहा उन्होंने संस्कृत, बगला, गुजराती और मराठी भाषाए सीखी। 1904 में उन्होंने योग प्रारम्भ किया। 1905 में बडौदा में त्यागपत्र देकर वह बगाल चले आये और National College of Bangal के प्रिन्सिपल हुए। अब वह राजनीतिक क्षेत्र में काम करने लगे। 'वन्देमातरम्' पत्र के सम्पादक हुए। 1908 में राजद्रोह के अभियोग में वह अलीपुर जेल में बन्दी हुए। 1909 में वह जेल से मुक्त हुए। 1910 में वह पाण्डिचेरी चले आये और यहा योग-साधना करने लग गये। मीरा रिशार (मा) और पॉल पाण्डिचेरी कुछ समय के लिए आये। 1914 में 'आर्य' त्रैमासिक पत्र का शुभारम्भ हुआ। 1914 से 1921 तक वह बराबर इस पत्र में अपने लेख लिखते रहे जो कि पीछे

ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुए। 1920 में मा मीरा रिशार फ्रान्स से वापिस आ गयी और अरविन्द आश्रम की स्थापना हुई। 24 नवम्बर 1926 का अधिमानस (overmind) का पृथ्वी पर अवतरण हुआ। उसी वर्ष श्री अरविन्द ने एकान्तवास प्रारम्भ कर दिया और मा आश्रम चलाती रही। 1928 में *Essays on the Gita* पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। 1940 में *The Life Divine* प्रकाशित हुआ। 5 दिसम्बर 1950 को श्री अरविन्द का निधन हुआ। उनके मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं *The Ideal of Human Unity*, *Essays on the Gita*, *The Life Divine*, *Human Cycle*, *The Mother*, *Savitri*

परमतत्त्व (The Absolute)

परमतत्त्व का पूर्ण वर्णन असम्भव है। हम 'सच्चिदानन्द' शब्द के द्वारा उसके मुख्य स्वरूप का वर्णन कर सकते है। 'सत्' वह है जिससे सबकी सत्ता है, किन्तु वह 'सत्' मात्र नही है, वह 'चित्' भी है। श्री अरविन्द का कहना है कि 'चित्' ज्ञान मात्र नही है। वह एक शक्ति है। उन्होंने चित् के लिए बराबर consciousness—force शब्द का प्रयोग किया है। साथ ही परमतत्त्व का स्वरूप आनन्द भी है।

परमतत्त्व को लोग प्राय केवल सत्, एक, निष्क्रिय और निर्गुण मानते हैं। श्री अरविन्द का कहना है कि वह सत्-असत्, एक-अनेक, निष्क्रिय-सक्रिय, निर्गुण-सगुण से परे है। वह द्वन्द्वा के कठघरे में नही बाधा जा सकता। वह द्वन्द्वातीत है। इसीलिए वह बिना किसी विरोध के सत् भी हो सकता है, भवत् भी हो सकता है, एक होते हुए अनेक हो सकता है।

पाश्चात्य और प्राच्य दोनो देशो मे ऐसे चिन्तक हुए है जो यह मानते है कि परमतत्त्व केवल शुद्ध सत् हो सकता है, भवत् तो आभास मात्र है। ग्रीस के पारमनाइडिज और भारत के शकराचार्य ऐसे चिन्तको के उदाहरण हैं। श्री अरविन्द का कहना है कि ऐसे विचार अर्धसत्य है। परमतत्त्व दोनो है और दोनो से परे भी है।

शकराचार्य की मान्यता है कि एक और अनेक म, अस्मत् और युष्मत् मे प्रमाता और प्रमेय मे, सक्रिय और निष्क्रिय मे, ससीम और असीम मे, शाश्वत और कालिक म अपरिहार्य भेद है। श्री अरविन्द तत्त्व और प्रपञ्च के अन्तर को अस्वीकार नही करते, किन्तु उनका कहना है कि प्रपञ्च तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है, मिथ्या नही है। प्रपञ्च तत्त्व म अन्तर्भूत है। अनेक, ससीम, प्रपञ्च तत्त्व पर आरोपित नही होते। वे तत्त्व से ही जन्य हैं। ब्रह्म के लिए 'एक' शब्द का प्रयोग सख्यावाचक अर्थ म नही हुआ है। वह पूर्णता के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। वह अनेक का विरोधी नही है।

चित् ज्ञान मात्र के लिए नही प्रयुक्त हुआ है। चित् शक्ति है। चित् निष्क्रिय

नही है, सक्रिय है; निश्चेष्ट नही है, सचेष्ट है। चित् की निष्क्रियता में भी शक्ति उसी प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार सक्रियता में। ब्रह्म और शक्ति एक है, दो नही। ब्रह्म मे शक्ति किसी विशेष समय में नही उत्पन्न होती, वह सदा ब्रह्म में निहित है। एक निश्चेष्ट अनन्त, जिसमे शक्ति न हो, अनन्त ही नही हो सकता। निश्चेष्ट, निःसत्त्व ब्रह्म शाब्दिक विरोध है, वदतो व्याघात है।

बुद्धि के लिए एक और वहु, सत् और भवत्, शाश्वत और कालिक परस्पर विरोधी हैं। यदि इनमें से एक सत्य है तो दूसरा अवश्यमेव मिथ्या होगा। ब्रह्म के लिए 'सत्', 'एक', और 'शाश्वत' मिथ्या नही कहे जा सकते। तो इनके विपरीत जो 'वहु', 'भवत्', और 'कालिक' है उन्ही को मिथ्या कहना पड़ेगा। यही कारण है कि शंकराचार्य ने 'बहु', 'भवत्' और 'कालिक' को मिथ्या कहा है। इन विरोधों का बुद्धि के स्तर पर कोई हल नही हो सकता। किन्तु ब्रह्म को, परमतत्त्व को तीनफुटे चित्त से नही नापा जा सकता। परमतत्त्व मानसिक धारणाओं के परे है। यह आवश्यक नही है कि जो मानवचित्त के लिए परस्पर विरोधी है वह ब्रह्म के लिए भी विरोधी हो। असीम, ससीम चित्त के तर्क से बाध्य नही है। असीम का अपना ही एक अपूर्व तर्क है।

सच बात तो यह है कि एक, बहु इत्यादि अवधारणाएं प्रतिकूल या विपरीत (contraries) है, परस्पर विरोधी (contradictories) नही है। परमतत्त्व सभी प्रतिकूलताओ का स्रोत होते हुए भी उनसे परे है। 'माया' शब्द 'मा' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'मापना।' जिस शक्ति के द्वारा वस्तुए मेय (measurable) बनती है वह माया है (मीयते अनया इति माया)। वह असीम की सृष्टि को मेय बनाने की अपूर्व शक्ति है। इन प्रतिकूल द्वन्द्वो में एक को मिथ्या कह कर निराकरण कर देना समस्या का कोई समाधान नही है। अधिक कहने की आवश्यकता नही है। ब्रह्म पूर्ण है, अखण्ड है। उसके द्वन्द्वो में से एक का प्रत्याख्यान कर देना ब्रह्म को उसकी पूर्णता या अखण्डता में न देखने के बराबर है।

परमतत्त्व और सृष्टि

समस्या यह है कि जो अकाल है वह काल में कैसे भासमान होता है, जो देश मे परे है वह देश में कैसे प्रकट होता है ? असीम के द्वारा ससीम देश-काल की सृष्टि कैसे होती है ?

श्री अरविन्द इस समस्या का समाधान करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म की एक अद्भुत शक्ति है जिसे हम अतिमानस (supermind) कह सकते हैं। यही अतिमानस शक्ति ही असीम से ससीम का सर्जन करती है। श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक ऋषियों ने इसी अतिमानस को 'माया' कहा है। ऋग्वेद में माया को प्रज्ञा

कहा गया है। यह प्रज्ञा अतिमानस ही है।

अतिमानस

अतिमानस मानवीय मानस का आवर्धित संस्करण नही है। वह मानवीय मानस से गुण और शक्ति दोनो मे भिन्न है। वह ऋतचित् है। श्री अरविन्द ने ऋतचित् शब्द ऋग्वेद से लिया है। इसमे सत्य, ऋत और बृहत् तीन अवधारणाएं निहित है। वह सच्चिदानन्द की सम्भावनाओ से अवगत है और उनको कार्यान्वित करता है। वह सच्चिदानन्द और विश्व के बीच की कड़ी है।

अतिमानस परमतत्त्व के सत्य को बनाये रखता है। मन, जीवत्व और भूत-वस्तु (matter) उसकी निम्न स्तर की अभिव्यक्तियां है।

अतिमानस और मानस (मन)

अतिमानस मानस से सर्वथा भिन्न है। मानस अथवा मन वस्तुओं को पृथक् करके जानने की चेष्टा करता है। वह उन्हें उस अविभेद्य पूर्ण से पृथक् कर लेता है जिसके कि वे अंग है और उन्हे पूर्ण से, समग्र से विभक्त करके सर्वथा भिन्न मानता है। वह सम्पूर्ण को समुदाय मात्र समझता है। इसीलिए वह अनन्त को नही समझ पाता। बर्गसाँ की भी यही धारणा थी कि मन किसी भी वस्तु को बिना उसका विश्लेषण अथवा खण्ड किये हुए नही समझ पाता। विश्लेषण से समग्र की एकता खण्डित हो जाती है जो कि पुनः स्थापित नही हो पाती। मन की एक कठिनाई और है। वह शरीर से अपने को अभिन्न समझता है। वह मस्तिष्क और नाड़ी-मण्डल से इस प्रकार संयुक्त है कि इनसे अलग होकर अपनी शुद्ध अवस्था मे नही हो पाता।

अतिमानस और अन्तःप्रज्ञा (Intuition)

अन्त.प्रज्ञा चेतना के उच्चतर स्तर के सन्देश को मन तक पहुंचाती है, किन्तु सामान्य मन के हस्तक्षेप के कारण उसकी क्रिया पूर्ण नही हो पाती। अन्त.प्रज्ञा प्रायः मानसिक क्रिया से मिश्रित और प्रभावित हो जाती है। इसलिए अन्त.प्रज्ञा बहुत उच्च अवस्था नही समझी जा सकती। बर्गसाँ अन्त.प्रज्ञा को सर्वोच्च ज्ञान मानते थे, किन्तु श्री अरविन्द उसे केवल उच्च ज्ञान मानते है, सर्वोच्च नही। वह अतिमानस का स्थान नही ले सकती। उच्च ज्ञान होते हुए भी वह केवल मानस ज्ञान की परिधि मे ही है।

अतिमानस (Supermind) और अधिमानस (Overmind)

यद्यपि अन्त.प्रज्ञा मानस से उच्चतर होती है, तथापि वह अस्थिर, आकस्मिक

और क्षणिक होती है। इसलिए वह मानस और अतिमानस के बीच की कडी नही बन सकती। एक ऐसी चेतना है जो अतिमानस के साथ सीधा सम्बन्ध जोडती है। श्री अरविन्द उसे अधिमानस (overmind) कहते है। यही अधिमानस मानस के अज्ञानमिश्रित ज्ञान और अतिमानस के सत्यपूर्ण ज्ञान के बीच की कडी है। यद्यपि अधिमानस मानस ज्ञान का सर्वोच्च स्तर है तथापि वह भी अज्ञान से सम्बद्ध है। उसमे अतिमानस की पूर्णता नही है। वह भी परम सत्य के भिन्न विभावो को पृथक् कर देता है। अतिमानस मे सद्वस्तु के सभी प्रकार सामञ्जस्यपूर्ण रूप से एक समग्रता मे गुथे रहते है, अधिमानस मे यह स्थिति नही रह जाती। अतिमानस मे पुरुष और प्रकृति सत्य के दो विभाव मात्र रहते है, किन्तु अधिमानस के स्तर पर वे दो भिन्न तथ्य हो जाते हैं। फिर भी अधिमानस साधारण मानस से कही उच्चस्तर की चेतना है। जहा मानस अपरिहार्य भेद मानता है, अधिमानस सहसम्बद्ध (correlative) तथ्य को पहचानता है। जो मानस के लिए प्रतिकूल है, वे अधिमानस के लिए परस्पर पूरक है।

चैत्य पुरुष

हमारे जीवन मे मन, जीवन और भौतिक शरीर की जो चेष्टाए ऊपरी तौर से देखने म आती है वही सब कुछ नही है। इनके नीचे एक अवसीम (subliminal) मन, जीवन और भूतवस्तु है जो कि उपरितलीय मन जीवन और भौतिक शरीर से कही अधिक सशक्त और क्रियाशील है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे दो पुरुष (soul) हैं—एक ऊपरी कामभय पुरुष जो हमारी आशाओ, अभिलाषाओ मे अभिव्यक्त होता है और दूसरा एक आन्तरिक चैत्य पुरुष जिसको श्री अरविन्द ने *psychic being* कहा है और जो शुद्ध प्रकाश, प्रेम और आनन्दस्वरूप है। यह चैत्य पुरुष सच्चिदानन्द के आनन्द का ही अश है। यही हमारे आन्तरिक जीवन का केन्द्र बिन्दु है। यही हमारे आन्तरिक आध्यात्मिक जीवन का स्वर्णिम द्वार है। इसी को कठोपनिषद् मे प्रत्यगात्मा कहा है। यही हमारा वास्तविक आत्मा है। इसी को जानना आध्यात्मिक जीवन का पहला पग है। वह 'चैत्य पुरुष' आत्मरूपी अग्नि का एक विस्फुलिंग है। यह साक्षिचैतन्य है, गुप्त मार्गदर्शक है, अक्षय है, अमर है। किन्तु अकेले इसी के द्वारा रूपान्तरण नही हो सकता। अतिमानस के अवरोहण की भी आवश्यकता है।

विवर्तन (Evolution) की प्रक्रिया—अवरोहण-आरोहण

श्री अरविन्द के अनुसार विवर्तन की प्रक्रिया के दो अग है—अवरोहण अथवा निमेष और आरोहण अथवा उन्मेष। आत्मा का पहले सज्ञाहीन जड (inconscient) मे अवरोहण होता है। बाद मे जड से प्रभु की ओर आरोहण

होता है। पहले बिना अवरोहण के आरोहण नही होता। अवरोहण और आरोहण दोनो मिलाकर विवर्तन की प्रक्रिया पूरी होती है।

न तो सच्चिदानन्द मे, न अतिमानस मे अज्ञान है, किन्तु चित् शक्ति को सृष्टि के लिए अवरोहण मे आत्मसीमा निर्धारित करनी पडती है। यही परिमिति या आशिक ज्ञान अज्ञान कहलाता है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। परिमिति 'तपस्' के द्वारा सिद्ध होती है। तपस् (तप) का अर्थ है चित् का अपने ऊपर शक्ति का घनीकरण।

जब आत्मा अतिमानस से नीचे की ओर अवरोहण करने लगता है तब उसमे परिमिति आने लगती है। अतिमानस और मानस के बीच मे कई स्तर हैं—अधिमानस (overmind), अन्त प्रज्ञा (intuition), प्रदीप्त मानस (illumined mind), उच्चतर मानस (higher mind)।

मानव का मानस उसके शीर्ष तक परिसीमित है। उच्चतर मानस प्रदीप्त मानस, अन्त प्रज्ञा और अधिमानस शीर्ष के क्षेत्र से परे है। इन सबको आत्मसम्बन्धी (spiritual) कह सकते है, परन्तु है यह सब मानस ही। उच्चतर मानस मे अज्ञान का कुछ अश हटने लग जाता है और ज्ञान का प्रकाश प्रारम्भ हो जाता है। प्रदीप्त मन मे और अधिक प्रकाश होता है और अन्त प्रज्ञा मे उससे भी अधिक। अधिमानस चेतना की मानस क्षेत्र मे उच्चतम अवस्था है। इसमे सत्य को ग्रहण करने की क्षमता है। यह अतिमानस और मानस के बीच की कडी है।

अवरोहण म चेतना अतिमानस से नीचे अधिमानस, अन्त प्रज्ञा, प्रदीप्त मानस, उच्चतर मानस, साधारण मानस, और प्राण मे उतरती हुई भूतवस्तु (matter) मे आकर सुप्त हो जाती है। भूतवस्तु और कुछ नही है। वह वास्तव मे चेतना की वह अवस्था है जिसमे वह सो गयी है। ज्यो-ज्यो चेतना नीचे उतरती आती है त्यो-त्यो ज्ञान मे कमी होती चली जाती है और अन्त मे भूतवस्तु तक आते-आते वह सज्ञाहीन जड हो जाती है।

आरोहण अवरोहण का प्रतिलोम (inverse) क्रम है। यह भूतवस्तु से प्राण अथवा जीवत्व (life), जीवत्व से मानस, मानस से अतिमानस की ओर उठने का क्रम है। अवरोहण आत्मविस्मृति है, आरोहण आत्मस्मरण है। अवरोहण स्वरूप का निमेष है, आरोहण स्वरूप का उन्मेष है, अवरोहण तिरोभाव है, आरोहण आविर्भाव है। अवरोहण आत्मगोपन है, आरोहण आत्मप्रकाशन है। अवरोहण आत्मापलाप है, आरोहण आत्माभिलाप है। अवरोहण-आरोहण, निमेष-उन्मेष भागवती चेतना का भव्य छन्द है।

विवर्तन के प्रनियम

विवर्तन एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वह प्राकृतिक वरण (natural

selection) नहीं है जैसा कि डारविन इत्यादि विवर्तनवादियों ने समक्ष रखा था। विवर्तन अव्यवस्थित, यादृच्छिक और अनियमित नहीं होता। यह अपने अग्रवर्ती प्रयाण में विशेष प्रनियमों का अनुवर्तन करता है। इसके तीन मुख्य प्रनियम हैं : प्रस्तारण (widening), उन्नयन (heightening) और समाकलन (integration)।

प्रस्तारण वह प्रनियम है जिसके द्वारा भूतवस्तु में संकुलीकरण (complication) और गहन संघटन (organization) हो जाता है जिससे कि उसमें प्राण या जीवत्व (life) का आविर्भाव हो सके।

उन्नयन वह प्रनियम है जिसके द्वारा निम्नतर कोटि से उच्चतर कोटि में आरोहण होता है। उदाहरणार्थ, जब भूतवस्तु (matter) पर्याप्त रूप में संघटित हो जाता है तब उसमें प्राण या जीवत्व का आविर्भाव होता है। जब जीवत्व पर्याप्त रूप में विकसित हो जाता है तब उसमें मन का आविर्भाव होता है। प्रस्तारण का सम्बन्ध भूतवस्तु के संघटन से है। उन्नयन का सम्बन्ध उच्चतर कोटि के आरोहण से है।

तीसरा प्रनियम समाकलन का है। इसका अर्थ यह है कि जब विकास निम्नतर कोटि से उच्चतर कोटि को पहुचता है तब उच्चतर अवस्था निम्नतर को अपने में खपा लेती है और उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल रूपान्तरित कर देती है, निम्नतर अवस्था उच्चतर के साथ सुन्दर रीति से समायोजित और समाकलित हो जाती है। उदाहरण के लिए भूतवस्तु को लीजिये। खनिज (mineral) क्षेत्र में भूतवस्तु कठोर और खुरदरी होती है। जब इसका कोशाणु (cell) रूप में परिष्कृत संघटन हो जाता है, तब यह जीवत्व की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम बन जाती है। जब भूतवस्तु इतनी संघटित हो जाती है कि उससे मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है तब उसमें इतनी मृदुता, सूक्ष्मता और सुघट्यता आ जाती है कि यह मानव के भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो जाती है। आख का उदाहरण लीजिये। यह बनी तो है पञ्चभूत से ही, किन्तु यह हमारे हृदय के अन्तस्तम भावों को प्रतिबिम्बित करती है। एक मुस्कराहट, आसू की एक बूद हृदय की मूक भाषा बन जाती है।

इस सम्बन्ध में पांच बातें ध्यान में रखनी चाहिए · (1) विवर्तन की ये प्रक्रियायें अलग-अलग नहीं काम करतीं। ये सब सहकारी हैं, मिलकर काम करती हैं। (2) आरोहण की प्रत्येक अवस्था में निम्नतर उच्चतर को नहीं विकसित करता। उच्चतर स्तर का ही प्रभाव नवीनता का चमत्कार प्रस्तुत करता है, उच्चतर स्तर ही जड़भूत से जीवत्व और अचेतन जीवत्व से चैतसिक मन को विकसित करता है। विकास नीचे से ठेलपेल नहीं है, ऊपर से कर्षण है। (3) बिना पूर्वतर अन्तर्भाव के आविर्भाव सम्भव नहीं

है। यदि जीवत्व मे मन का पहले ही से अन्तर्भाव न हो, तो विवर्तन प्रक्रिया मे किसी भी जादू के द्वारा मन का आविर्भाव जीवत्व से नही हो सकता। इसी प्रकार यदि जीवत्व का भूतवस्तु मे पहले ही से अन्तर्भाव न हो तो किसी भी प्रकार उसका भूतवस्तु से आविर्भाव नही हो सकता। (4) विवर्तन मे आरोहण का प्रत्येक वर्ग एक अचिन्तित नवीन उन्मज्जन (emergent) होता है, सघातजन्य परिणाम (resultant) नही। प्रत्येक उच्च वर्ग एक अपूर्व, अज्ञात, अननुमेय नवीन घटना का रूप लेता है। जीवत्व एक आवर्धित (magnified) भूतवस्तु नही है, वह स्वभाव से भूतवस्तु से भिन्न एक नवीन वैशिष्ट्य है। मन जीवत्व का एक परिवर्धित सस्करण नही है, एक नवीन वैशिष्ट्य का उन्मज्जन है। (5) विवर्तन सम्पूर्ण (integral) होता है। इसका यह भाव है कि विवर्तन मे जब एक उच्च वर्ग एक नवीनता के साथ प्रकट होता है तो वह अपने साथ निम्नतर तत्त्व को भी रूपान्तरित कर देता है। आरोहण जब एक उच्चवर्ग तक पहुचता है तो उसकी नवीनता या विशेषता अपने ही तक नही समाप्त हो जाती, वह निम्न तत्त्व को भी परिमार्जित और रूपान्तरित कर देता है। यही विवर्तन की सम्पूर्णता है। जब आरोहण भूतवस्तु से जीवत्व के स्तर पर आता है, जब जीवत्व भूतवस्तु को परिवर्तित और रूपान्तरित कर उसे अपना उपयुक्त माध्यम बना लेता है, खनिज क्षेत्र मे विद्यमान भूतवस्तु जब जीवक्षेत्र तक उन्नीत होती है, तब उसमे जो सूक्ष्मता और लचीलापन आ जाता है वह पहले नही विद्यमान था। इसी प्रकार जब जीवत्व से ऊपर मन का आविर्भाव होता है, तब मन जैव तत्त्व को अपने अनुकूल ढाल लेता है।

श्री अरविन्द के विवर्तन सिद्धान्त मे दो और विशेषताए है जो न तो पाश्चात्य चिन्तको मे और न भारतीय चिन्तको मे मिलती है। (1) सर्जनात्मक शक्ति (creative power) न तो भूतवस्तु मे है, न जीवत्व मे है और न मन मे है। तो फिर सर्जनात्मक शक्ति किसी ऐसे पदार्थ मे होनी चाहिए जो इन तीनो से अधिक उच्च हो और इन तीनो से परे हो। श्री अरविन्द का कहना है कि वह शक्ति अतिमानस (supermind) है जो मन से परे है, जो आत्मिक है।

इस शक्ति का अवतरण जब धरती पर होगा तब भूतवस्तु, जीवत्व और मानस सभी रूपान्तरित हो जायेगे। अभी तक आध्यात्मिक क्षेत्र मे जो कुछ लक्ष्य रहा है वह यही रहा है कि भूतवस्तु जीवत्व और मानस का क्षुद्र स्वभाव नही बदल सकता, जरा-मरण से इस पार्थिव जीवन मे छुटकारा नही मिल सकता, इसलिए साधना द्वारा इनसे मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म मे लीन हो जाना चाहिए अथवा ईश्वर के समीप वैकुण्ठ मे रहना चाहिए। मोक्ष का आदर्श पुनर्जन्म से छुटकारा पाना ही है।

श्री अरविन्द यह कहते हैं कि अतिमानस वह शक्ति है जो धरती पर उतरने

पर भूतवस्तु, जीवत्व और मानस को परिवर्तित कर देगी। यह वह शक्ति है जो जरा-मरण पर भी विजय प्राप्त कर लेगी। मानव का जीवन दिव्य हो जायेगा। वह अज्ञान से मुक्त हो जायेगा। ज्ञानी मानव पृथिवी पर विचरेगा।

दूसरी विशेषता यह है कि अभी तक केवल व्यक्ति का विवर्तन माना जाता रहा है। श्री अरविन्द का कहना है कि केवल वैयक्तिक विवर्तन (individual evolution) नही होगा, विश्व का भी विवर्तन (cosmic evolution) होगा। अब हम वैयक्तिक और विश्वीय दोनों विवर्तन किस प्रकार होगा, यह समझ लें।

वैयक्तिक विवर्तन (Individual Evolution)

व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध ही समाज है। अच्छा समाज तभी सम्भव है जब उसके व्यक्ति अच्छे हो। व्यक्ति वह है जिसके माध्यम से आत्मा अपने अस्तित्व को व्यक्त करता है। व्यक्ति के भीतर प्रत्यगात्मा है जिसकी दूसरी सज्ञा पुरुष है। भौतिक जगत् मे यह प्रत्यगात्मा शरीर धारण करता है। शरीर कोश कहलाता है। कोश का अर्थ होता है आवरण। प्रत्यगात्मा के कई कोश हैं· अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश आदि। व्यक्ति का समुचित विवर्तन तभी हो सकता है जब उसके सभी कोशो का और उसके प्रत्यगात्मा (psychic being) का उपयुक्त विकास हो।

केवल प्रकृति के द्वारा व्यक्ति का पूर्ण विकास कठिन है। श्री अरविन्द का कहना है कि योग के द्वारा ही व्यक्ति का पूर्ण विकास हो सकता है। योग का अर्थ है व्यक्ति की चेतना का दिव्य चेतना मे सयोग या मिलन। जिस साधन द्वारा यह सम्भव होता है उसे भी योग कहते हैं। श्री अरविन्द का योग व्यक्ति के पूर्ण रूपान्तरण और दिव्यीकरण का मार्ग है। श्री अरविन्द के अनुसार योग का अर्थ केवल प्रत्यगात्मा का परमात्मा से मिलन नही है। जितने पुराने ढग के योग है—उन सब का केवल लक्ष्य है जीवात्मा-परमात्मा का मिलन। उन्होने मन, प्राण और शरीर के रूपान्तरण पर ध्यान नही दिया है। उनका ध्येय केवल प्रकृति अथवा माया से छुटकारा पाकर ईश्वर मे मिल जाना या उसका सामीप्य प्राप्त करना रहा है। श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य केवल ईश्वर से मिलन नही है अपितु व्यक्ति के शरीर और चित्त का रूपान्तरण है जिससे व्यक्ति के सारे जीवन का दिव्यीकरण हो जाय। दूसरे, श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य ससार से पलायन नही है, अपितु ससार को रूपान्तरित मानव का उपयुक्त क्षेत्र बनाना और दिव्य मानव का एक नया समाज बनाना है।

उनकी योग-क्रिया का सक्षेप मे तीन शीर्षको मे वर्णन कर सकते हैं (1) पुकार और प्रत्युत्तर (call and response), (2) शान्ति और समत्व

(calm and equality) और (3) आत्मसमर्पण (surrender)।

1 पुकार और प्रत्युत्तर—पुकार का अर्थ है अविरत अभीप्सा (aspiration), जीवात्मा की परमात्मा के लिए उत्कट भूख, प्रभु के प्रति अपने को स्वीकार और रूपान्तरित करने के लिए अन्तरतम हृदय की सच्ची पुकार। इसके लिए श्री अरविन्द घोष ने जिस मुख्य शब्द का प्रयोग किया है वह है aspiration—अध्येषणा, अभीप्सा जिसका अर्थ है दिन-रात प्रभु का चिन्तन, प्रभु की याद, प्रभु के प्रति अपने को रूपान्तरित करने के लिए व्यथित पुकार। यह पुकार भीतर के प्रत्यगात्मा से अथवा हृदय से उठती है। यह मूक नीरव पुकार होती है।

सच्ची पुकार का साधना की सहायता और प्रगाढता के रूप मे नीरव प्रत्युत्तर मिलता है और साधक के चित्त का शोधन होने लग जाता है। यदि पुराने संस्कार-वश अपवित्र विचार मन मे उठें तो उनका निरसन या परित्याग (rejection) कर देना चाहिए।

2 *शान्ति और समत्व*—शान्ति शुद्ध हृदयता और राग के परित्याग से आती है। जो चित्त काम और गाढ राग से क्षुब्ध रहता है उसमे चेतना के उच्चतर स्तरो के स्पन्दन की ग्रहणशीलता नही रह जाती और वह साधना मे उन्नति नही कर सकता। समत्व का तात्पर्य है राग-द्वेष, सुख दु ख, जय-पराजय इत्यादि द्वन्द्वो से उदासीन हो जाना। शान्ति और समत्व साधना के लिए बहुत आवश्यक है।

3 आत्मसमर्पण—आत्मसमर्पण का अर्थ है प्रभु के प्रति अपने को पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर देना। श्री अरविन्द ने आत्मसमर्पण पर सबसे अधिक बल दिया है। जितना ही सच्चा आत्मसमर्पण होता है उतना ही प्रभु की कृपा और शक्ति की धार उतर कर साधक को आर्द्र कर देती है और उसके रूपान्तरण मे सहायक होती है। आत्मसमर्पण के लिए गीता मे प्रतिपादित कर्तृत्वाभिमान त्याग, अनासक्ति और ईश्वरार्पण बुद्धि से बहुत सहायता मिलती है। जितना ही साधक अहन्ता के भाव का त्याग करता है और प्रभु के प्रति अपने को उत्सर्ग कर देता है उतना ही उसकी देखरेख प्रभु करता है।

वैयक्तिक विवर्तन मे चैत्य पुरुष का बडा भारी योगदान है। चैत्य पुरुष साधक का मार्ग-दर्शन करता है और उसके विवर्तन मे सहायक होता है। साधक जितना ही अहन्ता के भाव को निरस्त करता जाता है उतना ही चैत्य पुरुष अग्रसर होता है और व्यक्ति के अग्राभिमुख विकास मे सहायता करता है।

विश्वीय विवर्तन (Cosmic Evolution)

विश्वीय विवर्तन तीन प्रकार के रूपान्तरण द्वारा सम्भव है (1) चैत्यपौरुष रूपान्तरण, (2) उच्चतर मानसीय रूपान्तरण और (3) अतिमानसीय

रूपान्तरण। इन तीनों के द्वारा सारे विश्व का एक नया रूप घटित होगा।

1. चैत्य पौरुष रूपान्तरण—ऊपर यह कहा जा चुका है कि हमारे हृदय गुहा में एक आत्मिक सत्ता विद्यमान है जो कि ब्रह्माग्नि की चिनगारी या विस्फुलिंग के समान है। श्री अरविन्द ने इसे चैत्य पुरुष (psychic being) कहा है। चैत्य पुरुष शरीर, जीवत्व और मन को साधन की तरह से उपयोग करता है, किन्तु इनके दोषों का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह प्रभु के प्रेम से परिपूर्ण है। श्री अरविन्द ने हमारे बाहरी व्यावहारिक आत्मा को काममय पुरुष (desire soul) कहा है। इसका स्वभाव है परिग्रह और भोग। चैत्य पुरुष हमारा आन्तरिक और वास्तविक आत्मा है, किन्तु हमारे स्वार्थ, राग-द्वेष और अहन्ता का परदा इसके ऊपर पड़ा रहता है जिसके कारण यह विशेष रूप से सामने नहीं आता। जितना ही साधक स्वार्थ और अहन्ता का त्याग करता है और प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करता है, उतना ही चैत्य पुरुष सामने आता है और साधक की शुद्धि सम्पादित करता है। वह मन, प्राण और शरीर तीनों को शुद्ध करने लग जाता है। अनवरत और सच्ची अभीप्सा से चैत्य पुरुष अधिक कार्यशील होता है। जितना ही अधिक लोग चैत्य पुरुष के प्रभाव में आयेंगे उतना ही विश्व में नयी चेतना का जागरण होगा और उसी के साथ विश्व का परिवर्तन और विवर्तन होगा।

2 उच्चतर मानसीय रूपान्तरण—रूपान्तरण तो चैत्य पुरुष द्वारा प्रारम्भ होता है, परन्तु अकेले इसके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता। हम ऊपर देख चुके है कि मानवीय मानस और अतिमानस के बीच में उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्त-प्रज्ञा और अधिमानस शक्तियाँ है जो मानवीय मानस से ऊपर की शक्तियाँ है। ये आध्यात्मिक मानस शक्तियाँ है जो अभी मानव में विकसित नहीं हुई है। कुछ बहुत बड़े योगी अन्त प्रज्ञा अथवा कभी-कभी अधिमानस तक साधना के द्वारा ऊपर उठ चुके है, किन्तु विश्व में सामान्य रूप से इनका अवरोहण नहीं हुआ है। केवल साधना द्वारा अन्त प्रज्ञा अथवा अधिमानस तक आरोहण कर जाने से मनुष्य में जो पुरुष अथवा आध्यात्मिक अंश है उसकी उन्नति हो सकती है, किन्तु उसमें जो प्रकृति अंश है—अर्थात् मन, जीवत्व और शरीर—उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इनकी प्रकृति पूर्ववत् ही बनी रहती है। अत केवल साधना से आरोहण द्वारा विश्वीय रूपान्तरण नहीं हो सकता। प्रकृति को त्याग कर साधकों के अधिमानस तक ऊपर उठ जाने से कुछ व्यक्तियों का भले ही उपकार हो जाय, किन्तु कोई विश्वीय रूपान्तरण नहीं हो सकता। विश्वीय रूपान्तरण तो तब होगा जब प्रकृति अंश अर्थात् मन, जीवत्व और शरीर का परिवर्तन हो। यह विश्वीय परिवर्तन तभी सम्भव है जब अधिमानस, अन्त प्रज्ञा, प्रदीप्त मानस और उच्चतर मानस का अवरोहण मानव के भीतर हो जाय। उनके अवरोहण से

मानव के मन, जीवत्व और शरीर में परिवर्तन प्रारम्भ होगा।

3 अतिमानसीय रूपान्तरण—पूर्ण विश्वीय परिवर्तन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि अतिमानसीय चेतना पृथिवी पर न उतर आवे। उसके अवरोहण का एक ही अमोघ साधन है—मानव का प्रभु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण। अतिमानस के अवतरण से ही विश्व का पूर्ण विवर्तन सम्भव है। विश्व के पूर्ण विवर्तन का अर्थ है प्रकृति का अतिप्रकृति में, मानव का अतिमानव में परिवर्तित हो जाना। मानव अपने प्रयत्न या साधना से अतिमानव (super-man) में नहीं परिवर्तित हो सकता और न मानव के किसी उपाय से प्रकृति अतिप्रकृति (super-nature) में परिवर्तित हो सकती है।

अतिमानस सच्चिदानन्द की साक्षात् शक्ति है। अतएव इसी में वह क्षमता है कि यह विश्व को रूपान्तरित कर दे।

सारा विश्व तीन वर्गों में विभाजित है—जड, अज्ञान, ज्ञान। सब भौतिक जगत् जड है। विवर्तन प्रक्रिया ने जड के ऊपर जीवत्व का विकास किया है और जीवत्व के ऊपर मन का। मन के ऊपर अभी उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्त प्रज्ञा और अधिमानस का पृथ्वी तल पर विकास होना है। किन्तु मन से लेकर अधिमानस तक सब अज्ञान के राज्य में हैं। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का नितान्त अभाव नहीं है। अज्ञान का अर्थ है, अल्पज्ञान, दूषित ज्ञान। इस प्रकार का अज्ञान मन से लेकर अधिमानस तक रहता है। केवल अज्ञान की मात्रा में अन्तर होता है।

केवल अतिमानस ऋतचित् है, सत्यपूर्ण है, ज्ञानपूर्ण है। उसमें अज्ञान लेश मात्र भी नहीं है। अत अतिमानस के ही अवतरण से पूर्ण ज्ञान का साम्राज्य विश्व में स्थापित होगा और मानव अज्ञान से मुक्त होकर ज्ञानी (gnostic being) के रूप में पृथिवी पर विचरेगा।

समीक्षा

श्री अरविन्द का दर्शन उपनिषद् की भांति अनुभव पर प्रतिष्ठित है। उनके चिन्तन पर वेद, उपनिषद्, गीता और तन्त्रों का प्रभाव है, किन्तु कुछ बातों में इतनी नवीनता है कि वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। अतिमानस और उसका कार्य श्री अरविन्द के दर्शन की एक बडी विशेषता है।

उनका विवर्तन का सिद्धान्त सर्वथा अपूर्व है। पाश्चात्य और भारतीय दोनों दर्शनों की यह मान्यता है कि पृथिवी पर विकास का सबसे बडा परिणाम मानव है। यह अन्तिम, चरम विराम है। श्री अरविन्द की धारणा यह है कि मानव विवर्तन का अन्तिम क्रम नहीं है। मानव का और विकास होने वाला है। वह अतिमानव में परिवर्तित हो जायेगा। जर्मनी के दार्शनिक नीत्शे ने भी अतिमानव

"मैं प्रायः अपने धर्म को सत्य का धर्म कहता हूं। इधर यह कहने के स्थान पर कि ईश्वर सत्य है, मैं अपने धर्म को और अधिक स्पष्ट रूप से वर्णन करने के लिए यह कहने लग गया हू कि सत्य ईश्वर है। कुछ भी मेरे ईश्वर को इतने पूर्णरूप से नही वर्णन कर सकता है जितना सत्य। ईश्वर का प्रत्याख्यान तो सुना भी गया है। सत्य का प्रत्याख्यान सुनने मे नही आया। अत्यन्त अज्ञ मनुष्य के भीतर भी सत्य होता है। हम सभी सत्य-ज्योति के विस्फुलिंग है। इन सब विस्फुलिंगो का कुल योग अवर्णनीय और अभी तक अज्ञात सत्य है जिसकी अभिधा ईश्वर है। मैं बराबर अविरत प्रार्थना द्वारा उस सत्य के निकट अग्रसर होता जा रहा हू।"

सत्याग्रह

सत्य के लिये जो कि दिव्य है, ईश्वरीय है, आग्रह करना जीवन का धर्म हो जाता है। यही गाधी जी के सत्याग्रह का दार्शनिक अर्थ है। जो सत्य है उसके लिए निर्भय होकर मनुष्य को डटना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल सत्य के ही लिए सघर्ष का औचित्य है। असत्य के लिए सघर्ष सत्याग्रह नही दुराग्रह होगा। सत्याग्रह आन्तरिक आत्मबल पर प्रतिष्ठित है। सत्य का तेज आध्यात्मिक होता है। जो सत्य को ईश्वरस्वरूप मानते हैं वही वास्तविक सत्याग्रह के अधिकारी हैं। सत्याग्रह केवल असत्य से घृणा है, असत्य के बर्तने वाले या करने वाले से नही। इस सूक्ष्म भेद को न समझने के कारण लोगो ने प्रायः गांधी जी के सत्याग्रह को गलत समझा है।

अहिंसा

महाभारत मे स्पष्ट कहा गया है—"अहिंसा परमो धर्मः" अर्थात् अहिंसा सर्वोच्च धर्म है। गांधी जी अहिंसा को सर्वोच्च धर्म समझते थे। 'अहिंसा' शब्द की दृष्टि से निषेधात्मक है किन्तु अर्थ की दृष्टि से विध्यात्मक है। शब्द की दृष्टि से उसका अर्थ है मन, वचन, कर्म से किसी को पीडा न देना। अर्थ की दृष्टि से उसका तात्पर्य है प्राणिमात्र के लिए प्रेम। प्रेम होने से ही पीडा न देने की भावना जागृत हो सकती है। प्रेम का तात्त्विक आधार है आत्मवत् सबको समझना।

गाधी जी के सत्याग्रह का अहिंसा अभिन्न अग है। गाधी जी का यह दर्शन इस तात्त्विक विचार पर प्रतिष्ठित है कि ईश्वर सत्य है। परन्तु यह सत्य प्रेम-स्वरूप है। इसमे हिंसा का अवकाश नही है। अतः सत्य के लिए आग्रह अहिंसात्मक होना चाहिए। सत्य और हिंसा परस्पर विरोधी हैं। सत्य के लिए सघर्ष करना है, किन्तु उस संघर्ष मे दूसरे की हिंसा नही करनी है, उस पर प्रहार नहीं करना

है। सत्याग्रह का प्रेरक हेतु दूसरे को सत्य के रास्ते पर लाना है। न उसके प्रति घृणा का भाव रखना है और न उसको हानि पहुंचाने का भाव रखना है।

गांधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह के पीछे एक और दार्शनिक विचार है। वह यह है कि सत्याग्रह से जिसके स्वार्थ को धक्का लगता है उसमें क्रोध जागृत होता है और वह हिंसा का प्रयोग करता है। यदि हिंसा के बदले सत्याग्रही भी हिंसा का अवलम्बन करेगा तो जिसके पास हिंसा का अधिक प्रबल साधन है उसकी विजय होगी और सत्याग्रह सफल नहीं हो सकेगा। किन्तु यदि सत्याग्रही अहिंसा का अवलम्बन करेगा, सभी यातनाएं सहन करने को तैयार होगा तो एक तो अहिंसात्मक सत्याग्रही के पक्ष में नैतिक बल का इतना प्रभाव होगा कि स्वार्थी हिंसाकारी को एक न एक दिन झुकना पड़ेगा। दूसरे, हिंसा न पहुंचाने से हिंसा-कारी का दिल एक न एक दिन पिघलेगा और अहिंसा की विजय होगी।

ब्रह्मचर्य

गांधी जी ने ब्रह्मचर्य पर भी बहुत बल दिया है। उनका कहना है कि प्रकृति ने मैथुन की सहज प्रवृत्ति केवल सन्तान के लिए दी है, भोग के लिए, रति के लिए नहीं। एक विवाहित व्यक्ति को भी सन्तान हो जाने पर भोगवृत्ति त्याग कर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इससे उसकी शुद्धि होगी और आत्मबल बढ़ेगा। जब उसका चित्त शुद्ध हो जायेगा तो वह अहिंसा और सत्य का अधिक अच्छी तरह से पालन कर सकेगा।

अपरिग्रह

गांधी जी के शब्दों में अपनी आवश्यकता के अतिरिक्त धन एकत्र करना एक प्रकार की चोरी है। इसलिए गांधी जी अपरिग्रह पर बहुत बल देते थे। वह कहते थे कि अपरिग्रह से स्वायत्तीकरण और भुक्ति की प्रवृत्ति क्षीण होती है और व्यक्ति में आध्यात्मिकता का बल बढ़ता है।

राजनीति और धर्म

गांधी जी एक कर्मवीर थे। उनका गीता के कर्मयोग में अटूट विश्वास था। यद्यपि वह ईश्वर के परम भक्त थे और नित्य हृदय से प्रार्थना करते थे तथापि वह मानव की सेवा प्रार्थना और धर्म समझते थे। भारत एक विदेशी शासन के अधिकार में था जो कि अपने स्वार्थ के लिए भारत का दोहन कर रहा था। यहां का निवासी पूर्ण स्वतंत्रता से वंचित था। गांधी जी ने भारत को स्वतंत्र करना अपना धर्म समझा। वह धर्म को राजनीति से पृथक् रखने में विश्वास नहीं करते थे। जहां कहीं दुष्कृति हो—चाहे राजनीतिक, चाहे सामाजिक, उसको हटाना

गांधी जी अपना धर्म समझते थे। वह मानव की सेवा और धर्म अभिन्न समझते थे। उन्होंने लिखा है :

"My motive has been purely religious. I could not be leading a religious life unless I identified myself with the whole of mankind, and this I could not do unless I took part in politics. The whole gamut of man's activities today constitutes an indivisible whole; you cannot divide social, political and purely religious work into watertight compartments. I do not know any religion apart from human activity. My devotion to truth has drawn me into the field of politics, and I can say without the slightest hesitation, and yet with all humility that those who say that religion has nothing to do with politics do not know what religion means."

"राजनीतिक कार्य मे मेरा प्रेरक हेतु धर्म रहा है। जब तक मैं समस्त मानव से अपने को एक सम न समझ पाता, तब तक मैं धार्मिक जीवन न व्यतीत कर सकता। और यह एक सम का भाव नही पनप सकता था जब तक मैं राजनीति में भाग नहीं लेता। मानव के क्रियाकलाप का सारा क्षेत्र एक अविभाज्य समष्टि है। सामाजिक, राजनीतिक और नितान्त धार्मिक कार्य अभेद्य विभागों मे नही विभाजित किये जा सकते। मैं मानवीय कार्य के अतिरिक्त दूसरा धर्म नही जानता। सत्य के प्रति मेरी निष्ठा मुझे राजनीतिक क्षेत्र मे खीच लायी है और मैं बिना झिझक के किन्तु पूर्ण विनम्रता से यह कह सकता हूं कि जो यह कहते है कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है वे यह जानते ही नही कि धर्म क्या है।"

केवल राजनीतिक सुधार को गाधी जी धर्म नही समझते थे। हरिजनों के उद्धार के लिए भी उन्होने प्राणपण से प्रयत्न किया। 1939 के 'हरिजन पत्र' के 11वें अंक मे उन्होने लिखा था :

"I recognize no God except the God that is to be found in the hearts of the dumb millions. They do not recognize His presence; I do. And I worship the God that is Truth, or Truth which is God, through the service of these millions."

"जो लाखों मूक जनों के हृदय में ईश्वर विद्यमान है उसके अतिरिक्त और किसी ईश्वर को मैं नही जानता। लोग उसकी विद्यमानता को नही समझते। मैं समझता हूं। मैं इन लाखों जनों की सेवा के द्वारा उस ईश्वर की पूजा करता हू जो सत्य है अथवा उस सत्य की पूजा करता हूं जो ईश्वर है।"

छुआछूत को हटाना और विभिन्न सम्प्रदायों में सुमेल का प्रयत्न भी गांधी जी के लिए एक धार्मिक कार्य था।

चर्खा

गांधी जी साधारण जन की दरिद्रता से पीडित थे। अपने सेवाधर्म के भाव से ही प्रेरित होकर उन्होंने लोगों को चर्खा चलाने में प्रवृत्त किया। वह कहते थे कि केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से साधारण जन का उद्धार नही हो सकता जब तक कि उसको कुछ आर्थिक सहायता न मिले। किसान वर्ष भर में लगभग छ महीने बेकार रहता है। यदि उस बेकारी के समय वह सूत कात कर बेचे तो उसको कुछ आर्थिक लाभ हो जायेगा और उसकी दरिद्रता म कुछ कमी होगी। उन्होंने लिखा था ·

"Political freedom has no meaning for the millions if they do not know how to employ their enforced idleness Eighty per cent of the Indian population are compulsorily unemployed for half the year; they can only be helped by reviving a trade that has fallen into oblivion and making it a source of new income."

"लाखों के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही है यदि वे यह नही जानते कि विवशता के कारण जो हमारे पास बेकार समय है उसका हम कैसे सदुपयोग करें। भारतीय जनसमुदाय का 80 प्रतिशत आधे वर्ष के लिए अपनी विवशता के कारण बेकार रहता है। उसकी सहायता तभी हो सकती है जब हम एक ऐसे व्यवसाय को पुनः प्रवर्तित करें जिसको लोग भूल गये हैं और उसको एक नयी आय का साधन बनायें।"

गांधी जी का यह भी विश्वास था कि चर्खे से जीवन के बढते हुए यन्त्रीकरण का भी निरोध होगा।

समीक्षा

गांधी जी का दर्शन पुस्तकीय दर्शन नही था। वह जीवन के अन्तस्तम अनुभव से उभरा था। वह एक बौद्धिक आभूषण नही था। वह उनका श्वास-प्रश्वास था, उनके रक्त में प्रवाहित होता था। वह केवल उनकी वाणी मे नही, उनके जीवन मे व्यक्त हुआ था। उनमे एकत्व की चेतना जग गयी थी। इसीलिए मानव मात्र का दुःख उनका दुःख हो गया था।

गांधी जी के जो मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त हैं यथा, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह वे सब पातञ्जल योगसूत्र के साधनपाद के 30वें सूत्र मे निम्न प्रकार से वर्णित हैं

"अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। यम योग के आठ अंगों में से एक अंग है।

पातञ्जल योगसूत्र में गांधी जी के मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त योग के एक

विशेष अग माने गये हैं। परन्तु दो बातो मे योगसूत्र और गाधी जी के विचारो मे अन्तर है। योगसूत्र सबसे अधिक महत्त्व अहिंसा को देता है। अहिंसा को वह उपकार्य मानता है और सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को उपकारक। उक्त सूत्र पर व्यास भाष्य स्पष्ट रूप से कहता है -

'उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।"

अर्थात् "बाद के सत्य इत्यादि जो यम नियम कहे गये है वे सब अहिंसामूलक हैं। अहिंसा की सिद्धि के लिए ही अन्य यम-नियम अर्थात् सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि प्रतिपादित किये जाते हैं। उसी अहिंसा को निर्मल करने के लिए ही अन्य यम नियम ग्रहणीय हैं।" इस भाष्य से यह स्पष्ट है कि पतञ्जलि अहिंसा को मुख्य और साध्य मानते हैं और सत्य इत्यादि को साधन। गाधी जी सत्य को मुख्य मानते हैं, सत्य को ईश्वर का पर्याय मानते है। अहिंसा इत्यादि को उसका साधन मानते हैं। इसका कारण यह है कि पतञ्जलि की और गाधी जी की सत्य की अवधारणा मे अन्तर है। पतञ्जलि ने सत्य को लोकरूढ अर्थ मे लिया है। व्यास का उस पर भाष्य इस प्रकार है :"यथा दृष्ट यथानुमित यथा श्रुत तथा वाङ्मनश्च।" अर्थात् "जैसा प्रत्यक्ष प्रमाण रूप इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किया हो, जैसा तर्क से अनुमान किया हो, जैसा सुना हो वैसा ही मन और वाणी भी हो तो सत्य कहा जायेगा।" इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि मे सत्य शब्द लोकरूढ अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् "जैसा देखा, अनुमान किया और सुना हो वैसा ही मन और वाणी के द्वारा व्यक्त करना, कहना।" गाधी जी ने सत्य को केवल बोलने के अर्थ मे नही लिया है। उन्होंने उसे एक बहुत ही व्यापक अर्थ मे लिया है। पतञ्जलि मे सत्य का अर्थ है "तथ्य के अनुसार।" गाधी जी के प्रयोग मे उसका अर्थ है "तथ्य।" इसीलिए सत्य को उन्होने ईश्वर कहा है। उपनिषद् मे भी सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म—इस वाक्य मे सत्य इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। गाधी जी ने कहा है, सत्य के अतिरिक्त दूसरा कोई ईश्वर नही है और सत्य के साक्षात्कार करने का साधन प्रेम या अहिंसा है। स्पष्ट है कि गाधी जी के लिए सत्य साध्य है और अहिंसा साधन।

गाधी जी की दूसरी विशेषता अहिंसा के सम्बन्ध मे है। सारे भारतीय चिन्तन मे अहिंसा एक साधक का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य या गुण माना गया है। गाधी जी ने अहिंसा का प्रयोग एक सामुदायिक स्तर पर, जनसमूह के स्तर पर किया है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ है मन, वचन और कर्म से किसी के प्रति द्वेष का न होना। स्पष्ट है कि एक सामूहिक स्तर पर मन और वचन से किसी के प्रति द्वेष के न होने की आशा व्यर्थ है। गांधी जी भी इसको समझते थे। इसको समझते हुए भी उन्होंने अहिंसा का एक राजनीतिक अस्त्र की भांति प्रयोग किया। उसका

कारण यह है कि वह इस सिद्धान्त पर पहुंचे कि यदि मनुष्य मन और वचन से द्वेष न भी मिटा सके, किन्तु फिर भी यदि वह एक सत्य के लिए, एक उच्च आदर्श के लिए कर्म से प्रतिघात या प्रतिकार नही करता है तो इसके दो परिणाम होंगे— एक तो, आक्रामक के विरुद्ध प्रतिघात न करने से एक ऐसे प्रबल नैतिक प्रभाव का प्रसार होगा और प्रतिघात न करने वाले के पक्ष में एक ऐसे जनमत का जागरण होगा कि उसका शासक या आक्रामक चिरकाल तक प्रतिरोध न कर पायेगा। अहिंसा का जो नैतिक प्रभाव होता है वह एक अन्तर्निहित आत्मिक बल का परिणाम होता है और उसके सामने शासक का सिर झुक जाता है। दूसरे, शासक या आक्रामक चाहे कितना भी क्रूर और अत्याचारी क्यों न हो, है तो वह मनुष्य। अहिंसात्मक बलिदान को देखकर उसकी मानवता की सहज प्रवृत्ति का उदय होगा और वह अपने अत्याचार पर विचार करने के लिए बाध्य होगा। दक्षिण अफ्रीका मे गोरो की तानाशाही के विरुद्ध गाधी जी ने जो अहिंसात्मक आन्दोलन किया था उसका वहा के जनरल Smuts और उसके सचिव पर क्या प्रभाव पड़ा था वह सचिव के निम्नलिखित उद्गार से आका जा सकता है

"I do not like your people and I do not care to assist them at all But what am I to do? You help us in our days of need. How can we lay our hands upon you? I often wish that you took to violence like the English strikers and then we would know how to dispose of you But you will not injure even the enemy You desire victory by self suffering alone and never transgress your self imposed limits of courtesy and chivalry. And that is what reduces us to sheer helplessness" (*Mahatama Gandhi His Own Story*, p 247)

"मैं आपके लोगो को नही पसन्द करता और उनकी कुछ भी सहायता नही करना चाहता। परन्तु मैं क्या करू। आप हमारी आवश्यकता के समय हमारी सहायता करते हैं। हम आपके ऊपर कैसे हाथ छोड़ सकते हैं? मैं यह प्रायः चाहता हू कि आप अग्रेज हड़तालियो की तरह हिंसा का रास्ता अपनाते और फिर हम देख लेते कि आपको कैसे ठिकाने लगाया जाय। किन्तु आप तो शत्रु को भी क्षति नही पहुचायेंगे। आप तो केवल आत्मयातना के द्वारा विजय चाहते हैं और शालीनता और विशिष्ट शौर्य की उन सीमाओं के बाहर नहीं जाना चाहते जिनको आपने स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर रखा है। आपकी यह विशेषता हम लोगो को सरासर असहाय बना देती है।"

गाधी जी का सत्य का दर्शन बहुत ही उच्च था। उनका अहिंसा का दर्शन तो सर्वथा मौलिक था। उसकी दो विशेषताए थी। एक तो, वह केवल व्यक्तिगत नहीं था, वह समुदायगत हो गया था। दूसरे, गाधी जी ने यह दिखला दिया कि

उसका प्रयोग अत्याचार के विरोध में किस प्रकार किया जा सकता है। उनकी सक्रिय और ऊर्जस्वी अहिंसा थी।

गांधी जी ने जगत् को केवल बौद्धिक दर्शन नहीं दिया है। उन्होंने दर्शन को प्रयोगात्मक, साधनात्मक बनाया है। उनमे दर्शन मूर्तिमान हो उठा है। इसीलिए समस्त विश्व के चिन्तन पर जितना उनका प्रभाव पड़ा उतना बहुत ही कम लोगों का पड़ा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

GANDHI, M. K., *My Experiments With Truth.*
——, *Hind Swaraj.*

पारिभाषिक शब्दावली
(GLOSSARY)

Abiogenesis अजीवाज्जनन
Absolute निरपेक्ष, अनुत्तर, परमार्थ, परमतत्त्व
Absolute Idealism निरपेक्ष चिद्वाद, ऐकान्तिक विज्ञानवाद, ऐकान्तिक ब्रह्मवाद
Abstract विविक्त, पृथक्कृत, भावबोधक, अमूर्त
Abstraction सूक्ष्मीकरण, अमूर्तीकरण, पृथक्करण, अपाकर्षण, अपूर्णता, विविक्त विचारणा, खण्ड-दृष्टि
Accidental आगन्तुक
Acosmism निष्प्रपञ्चवाद
Acquired characters अवाप्त लक्षण
Actual वास्तविक
Actual entities वास्तविक सत्ताएं
Actual occasions वास्तविक अवसर
Adjective विशेषण, अवलम्बी, आश्रित
Adjustment समायोजन, समाभियोजन
Aesthetics सौन्दर्य मीमांसा
Agnostic अज्ञेयपरक, अज्ञेयवादी
Agnosticism अज्ञेयवाद
All-inclusive सर्वपरिग्राही, सर्वसंग्राही
Analysis विश्लेषण
Analytic judgement विश्लेषात्मक विभावना
Analytical proposition विश्लेषात्मक उपस्थापना
Antecedent पूर्ववृत्त
Anticipation पूर्वावधारणा
Antinomy विप्रतिषेध, विरोध
Antithesis प्रतिधान
Anthropology नृशास्त्र, मानवविज्ञान
Anthropomorphic मानवपरक
Appearance प्रतिभास, दृश्य
Apperception प्रतिसंवेदन, आत्म-संवित्ति
A'posteriori परागनुभविक, परतोऽनुभविक
A'posteriority परागनुभविकत्व, परतस्त्व
Appreciation परिबोध, परिबोधन
A'priori प्रागनुभविक, पुरतोऽनुभविक

A'priority प्रागनुभविकत्व, पुरतस्त्व
Astronomy ज्योतिषशास्त्र
Aspiration अभीप्सा, अध्येषणा
Atheism अनीश्वरवाद, निरीश्वरवाद
Atheistic pluralism अनीश्वर अनेकवाद
Atom परमाणु
Attention अवधान, ध्यान
Attitude अभिवृत्ति
Authoritarian सत्तावादी
Authentic प्रामाणिक, वास्तविक, आप्त
Autonomous स्वायत्तशासी, स्वाधीन, स्वायत्त
Axiology अर्हत्व मीमांसा
Axiom स्वयंसिद्ध तथ्य

Becoming भवत्
Being सत्
Biocentric जीवकेन्द्री
Biology जीवविज्ञान
Biological जैविक
Biologist जीवविज्ञानविद्
Biological materialists जीवविज्ञानविद् भौतिकवादी
Bipolar द्विध्रुवी
Body cells कायकोशा, कायकोशाणु
Botany वनस्पति शास्त्र
Bourgeoisie पुन्जीजीविवर्ग
By-product उपोत्पाद, उपसृष्टि उपजात

Calcium चूना
Carbon प्रांगार
Carbon dioxide प्रांगारिक जारेय
Categories प्रमापक (काण्ट), सार्वभौमिक धर्म (अलैक्जेंडर)
Categorical imperative निरपेक्ष आदेश
Causality कार्यकारण भाव
Cell कोशाणु, कोशा
Certain निश्चित, अचूक
Chance यदृच्छा
Charge प्रभार
Character-complex लक्षण-जाटिल्य
Choice वरण
Chromosomes गुणसूत्र
Classification वर्गीकरण
Cogently उपपत्तिपूर्वक
Cognition अवबोध, ज्ञान, संज्ञान
Cognitive अवबोधात्मक, संज्ञानात्मक
Coherence संश्लेष, संगति, सामञ्जस्यभाव
Coherent युतसिद्ध, संगत, सामञ्जस्यपूर्ण
Collection समाहार
Combination संयोजन
Commonsense सामान्यबोध
Commonsense Realism सामान्यबोधात्मक यथार्थवाद
Communication पारस्परिक संवाद, संसूचना
Comparative Anatomy तुलनात्मक शरीर-रचना विज्ञान
Complementary पूरक
Component संघटक
Compresence सहोपस्थिति
Concept अवधारणा, प्रत्यय

Conception प्रत्ययन, अवधारणा
Conceptualism प्रत्ययवाद
Concrete सम्पूर्ण, सर्वांगीण, समवेत, संहृत, वस्तुबोधक, मूर्त, वास्तविक, विशिष्ट
Concrete Idealistic Monism सर्वांगीण चित्परक एकवाद
Concrete Universal सम्पूर्ण सामान्य, अखण्ड सामान्य, सर्वांगीण सामान्य
Concrescence मूर्तीकरण
Conditioned Reflex औपाधिक परिवर्त
Conscience अन्तर्भावना, विवेक
Conservation of Energy ऊर्जा-स्थिरता
Consistent संगत
Consistently सुसंगत रूप से, संगत्यनुसार
Conscious चेतन
Content अन्तर्वस्तु, विषय
Consciousness संविद्, संवित्, चेतनता, चैतन्य
Constructive रचनात्मक, मण्डनात्मक
Contradiction विरोध, विप्रतिपत्ति, विघात
Contradictory विरोधी, विप्रत्यात्मक, विघाती
Contrary विपरीत
Co-ordination समन्वयन
Copy प्रतिरूप
Correlation सहसम्बन्ध, अन्योन्यसम्बन्ध
Correlative अन्योन्याश्रयी अन्योन्यान्वय
Correspondence सादृश्य, तदनुरूपता
Cosmology विश्वमीमांसा
Cosmological विश्वगत, विश्वसम्बन्धी
Creationism कृतिवाद
Creative सर्जनात्मक, सर्जनशील
Creative advance सर्जनशील अग्रसरण, सर्जनात्मक अथवा रचनात्मक अग्रसरण
Creative evolution सर्जनात्मक विवर्तन
Creative synthesis सर्जनात्मक संश्लेष, सर्जनशील संश्लेषण
Creativity सर्जनशीलता
Criticism समीक्षा, समीक्षावाद
Critical समीक्षात्मक
Critical philosophy समीक्षात्मक दर्शन
Critique of pure reason शुद्ध विबोध की समीक्षा
Critical Realism समीक्षात्मक यथार्थवाद
Critical Idealism समीक्षात्मक चिद्वाद
Crystalline स्फटमय
Cyclic चक्रिक

Dasein अवस्थिति
Data सामग्री, उपादान
Deduction निगमन
Definite निश्चय

Deism केवलीश्वरवाद
Demonstrative knowledge निर्णायक ज्ञान
Destiny नियति
Destructive ध्वंसात्मक, खण्डनात्मक
Determinate विशेष
Determinism नियतिवाद
Deterministic नियतिपरक
Determining factor निरूपक अंक, निरूपक गुणक, निरूपक अंश
Development विकास
Dialectic (1) अरस्तू—प्रश्नोत्तर द्वारा विवाद, तर्क (2) काण्ट—प्रमापकों के अतिवर्ती प्रयोग द्वारा उपस्थित विरोध (3) हीगल—चिन्तन की त्रिकगति (4) चित् की प्रक्रिया (जेण्टाइल)
Dialectical method विरोधसमाधान न्याय (हीगल), आध्यात्मिक चतुष्क गति (क्रोचे)
Dialecticism (Hegel) त्रिकवाद
Dictator अधिनायक
Differentiation विशेषीकरण, भेदकरण
Dilemma उभयापत्ति
Dipolar द्विध्रुवी
Discursive ऊहापोहकारी, ऊहापोहात्मक
Disintegration संहतिभंग
Diversity विभिन्नता
Dogma आदेश, मत, रूढ़ि
Dogmatism रूढ़िवाद
Dogmatic Philosophy रूढ़िवादी दर्शन
Dominant Characteristics प्रभवद् लक्षण
Duree (duration—बर्गसाँ) अविच्छिन्न काल, अखड काल, काल का सततप्रवाह
Dynamic गत्यात्मक, गतिशील, शक्तिशील
Dysteleological अनुद्देशपरक

Efficient cause निमित्तकारण
Ego प्रमाता, अहं, अहंता
Ego centric स्वकेन्द्रीय
Ego-centric predicament प्रमातृकेन्द्रीय दु:स्थिति
Elan Vital जीवन शक्ति
Electron विद्युदणु
Electric charges वैद्युत प्रभार
Embryology भ्रूणविज्ञान
Emergent उत्क्रान्त, उत्क्रान्ति, अचिन्तित नवीन उन्मज्जन
Emergent evolution उत्क्रान्त्यात्मक विवर्तन
Empirical Psychology आनुभविक मनोविज्ञान
Empirical ego आनुभविक अहम्
Empiricism अनुभववाद
Empericist अनुभववादी
Energy ऊर्जा
Energism ऊर्जावाद
Entelechy अर्थसाधक तत्त्व
Environment परिवेश
Epigenesis उपजनन
Epiphenomenon उपघटना
Epistemology प्रमाण मीमांसा,

ज्ञान मीमांसा
Epistemological Realism ज्ञान मीमांसात्मक यथार्थवाद
Esse est percipi प्रत्यक्षमेवास्तित्वम्
Essence सार
Eternal objects शाश्वत पदार्थ
Eternal essence शाश्वत सार
Etiological कारणपरक
Ethics नीतिशास्त्र, आचरणशास्त्र
Evil अशुभ, दुरित
Evolution विवर्तन
Existent सत्
Existence अस्तित्व
(Existenz-sein)
Existentialism अस्तित्ववाद
Experience अनुभव, अनुभूति
Experiment प्रयोग
Experimentalism प्रयोगवाद, सम्परीक्षावाद
Explicit व्याकृत
Exploiter दोहक
Exploited दोहित
Exploitation दोहन
Expropriation सम्पत्तिहरण, स्वामित्वहरण
Extent आयाम
Extension विस्तार, विस्तृति, वितति
Extroversion बहिर्मुखता, पराङ्मुखता

Fallibilism स्खलनशीलतावाद
Feudal सामन्त
Feudalism सामन्तवाद, सामन्तप्रथा
Feeling वेदन, सहजवेदन
(व्हाइटहेड)
Fiat अभ्यादेश
Figurative औपचारिक
Final cause उद्दिष्ट कारण, प्रयोजक कारण
Finite परिच्छिन्न, अवच्छिन्न, ससीम
Finite mind परिच्छिन्न चित्त, अवच्छिन्न चित्त
First cause आदि कारण
Fittest क्षमिष्ठ
Force बल
Formal Logic नियमनिष्ठ न्याय आकारनिष्ठ न्याय
Freezing point श्यानांक
Function प्रकार्य

Geology भूगर्भशास्त्र
Geometry ज्यामिति
Gene पित्र्येक
Germ cell जीवाणु कोशा
Giraffe महाग्रीव
Gradation तारतम्य, क्रमबन्धन
Greater-than human अधिमानव

Hallucination निरालम्ब प्रत्यक्ष
Heredity पित्रागति
Heterization इतरत्व
Heterogeneity वैषम्य
Higher self उत्तम स्व, पर स्व
Historicity कालिकता
Homogeneity साम्य
Homogeneous state साम्यावस्था
Humanism मानवतावाद
Hybrid offspring प्रसंकर सन्तति

Hydrogen उद्जन
Hylozoism सजीव भौतिकवाद
Hylozoist सजीव भौतिकवादी
Hypothesis अभ्युपगम, प्राक्कल्पना
Idea (Plato) चिद्वाद, विज्ञानवाद
Idea (Image—प्रतिमान, प्रतिच्छाया, Hume) प्रतिरूप
Idea (concept) प्रत्यय
Ideas of Reason विबोध के प्रत्यय (Kant) जिन पर प्रमापकों के नियम नहीं लागू हो सकते
Idealism चिद्वाद, विज्ञानवाद
Idealist चिद्वादी, विज्ञानवादी
Ideal opposites भावगत विपरीतताएं
Ignorance अज्ञान
Illusion अध्यास
Illusory, Illusive आध्यासिक, अध्यस्त
Image प्रतिरूप, प्रतिमान, प्रतिमिति, प्रतिच्छाया
Immanent अन्तर्वर्ती, अन्तर्व्याप्त, अन्तस्थ, अन्तर्निहित
Immanence अन्तर्वर्तित्व अन्तर्व्याप्ति, सर्वव्यापिता
Immediate अव्यवहित, अपरोक्ष
Immediate experience अपरोक्षानुभूति, अव्यवहितानुभूति
Implicit अव्याहृत
Impression उपलब्धि दृश्य, वासना, संस्कार
Impulse आवेश, प्रचोदन
Inactive निश्चेष्ट
Incognitive apprehension असज्ञानबोध
Incoherent अयुतसिद्ध
Indefinite, Indeterminate अविशेष, निर्विशेष, अवाच्य, विकल्पातीत
Individual consciousness चित्त
Individuality अखण्ड व्यक्तित्व, अविभेद्य व्यक्तित्व
Induction उद्गमन
Inert जड
Infinite अनन्त
Ingression अन्त प्रवेश
Inherent cause समवायि कारण
Initiative अभिक्रम, उपक्रम
Inorganic अजैविक
Inseparability अविनाभाव
Insoluble असमाधेय, अविलेय
Instinct सहज प्रवृत्ति
Instrumentalism साधनवाद, उपकरणवाद
Integral सम्यक्, पूर्ण, सर्वांगीण
Integration एकत्व, पूर्णत्व, पूर्णता
Integrative एकत्वापादक, पूर्णत्वापादक
Intentional साशय
Interdependence अन्योन्याश्रयत्व, अन्योन्याश्रयता
Interest अभिरुचि
Interrelationship मिथ सम्बन्धिता
Introversion अन्तर्मुखता प्रत्यङ्-मुखता
Introspection अन्तर्निरीक्षण

Intution — अन्तरवबोध, प्रज्ञा (अभिनवगुप्त), अन्तः-प्रज्ञा, सहज ईक्षा
Intuitionism — अन्तरवबोधवाद, अन्तःप्रज्ञावाद, अप-रोक्षानुभूति, ईक्षा शक्ति (क्रोचे)
Irritability — उदीप्यता, क्षोभ
Invariable — नियत
Invariable antecedent — नियतपूर्ववृत्त
Invertibrate — अपृष्ठवंशी, रीढ़रहित

Judgement — विभावना, परामर्श

Knowledge — बोध, ज्ञान
Knowable — ज्ञेय, ज्ञातव्य

Law — प्रनियम
Limit — इयत्ता
Logic — न्यायशास्त्र, तर्क-शास्त्र, आन्वीक्षिकी
Logical Entity — यौक्तिक पदार्थ
Logical Positivism — तार्कीय निश्चितवाद, तार्कीय प्रत्यक्षवाद
Lower self — अधम 'स्व', अपर 'स्व'

Macrocosm — ब्रह्माण्ड, वृहत् सृष्टि, वृहत् विश्व
Maintenance — धारण
Manifesto — नीति-घोष, घोषणापत्र
Material — उपादान
Matter — भूतवस्तु, भूततत्त्व, उपादान, विषय
Materialism — भौतिकवाद
Materialist — भौतिकवादी
Material cause — उपादान कारण
Material particles — भौतिक लव
Material substance — भौतिक द्रव्य
Mechanism — यंत्रवाद
Machanistic — यांत्रिक
Mediate — व्यवहित, व्यवहिता-त्मक, परोक्ष
Meliorism — उन्नयनवाद
Mentalism — मनोवाद
Metaphysics — तत्त्वज्ञान, आति-भौतिक ज्ञान, तत्त्व-मीमांसा
Metaphysical — तात्त्विक, आति-भौतिक
Metaphysical Realism — तात्त्विक यथार्थवाद
Method — प्रक्रिया
Microcosm — पिण्डाण्ड, लघु सृष्टि, लघु विश्व
Microscope — अण्वीक्ष यंत्र
Mirage — मरीचितोय, मृगतृष्णा, मृगतृष्णिका
Modification — परिणति
Molecularity — व्यूहाण्वीयता
Monad — चिद्विन्दु, चिदणु
Monadism — चिद्विन्दुवाद
Monism — एकवाद
Monotheism — एकेश्वरवाद
Motion — गति
Motive — प्रेरक, प्रयोजन
Mutation — उत्परिवर्तन

Mysterious vital force गुह्यजीवन-शक्ति
Mysticism रहस्यवाद

Naive or Natural Realism प्राकृत यथार्थवाद
Naturalism निसर्गवाद
Natural selection प्राकृतिक वरण
Necessary नियत
Necessity नियतत्व
Negation प्रतिषेध, निषेध, प्रत्याख्यान, नास्तिवचन
Negative निषेधात्मक, नास्तिवाची, अभावात्मक, ऋणात्मक, नकारात्मक, प्रतिकूल, विलोम
Negatively निषेधमुखेन, निषेधात्मक रूप से, अस्वीकारात्मक रूप से, नास्तिवचनेन
Negative instance व्यतिरेकी दृष्टान्त
Neo-Realism नव्य यथार्थवाद
Neo-Realistic Pluralism नव्य यथार्थमूलक अनेकवाद
Nervous system नाडी-मण्डल
Neuroplasm नाडी प्ररम
Neutral stuff तटस्थ सत्ता
Nisus प्रेरक
Nitrogen भूयाति
Nominalism नामवाद
Nominalist नामवादी
Non-being असत्
Non cognitive असज्ञानात्मक
Notion अन्तर्बोध
Noumenon प्रपञ्चातीततत्त्व, मूलतत्त्व, प्रतिभासाधिष्ठान
Noumenal प्रपचातीत, मूलगत, अधिष्ठानगत
Nutrition पोषण

Object प्रमेय, ज्ञेय, ग्राह्य, विषय
Objective वस्तुनिष्ठ, अभिदृश्य, प्रमेयगत, विषयगत, व्यक्तिनिरपेक्ष, वस्तुपरक
Objectivity वस्तुनिष्ठता
Objective Idealism व्यक्तिनिरपेक्ष चिद्वाद, वस्तुनिष्ठ चिद्वाद
Objectifiaction विषयत्व, वस्तूकरण, विषयीकरण, अगीभूतकरण
Observation पर्यवेक्षण
Ontology सत्त्वमीमासा
Ontological सत्त्वगत, सत्त्वमीमासीय
Ontological argument सत्त्वगतयुक्ति, सत्त्वमीमासीय युक्ति
Opposite विपरीत
Opposition विपर्यास
Optimism शुभवाद, आशावाद
Order क्रम
Organ अवयव, अग
Organism अवयवी, अगी
Organic जैविक, अवयवी सम्बन्धी
Organic evolution जैविक विवर्तन, अवयवी का विवर्तन
Oxygen जारक
Pair of characters लक्षण युग्म

Paleontology पुरासत्त्वविज्ञान
Panlogism विश्वग्राही न्याय
Panpsychism सर्वमानसवाद
Pantheism विश्वेश्वरैक्यवाद
Panentheism ईश्वरस्थविश्ववाद
Paradox विरोधाभास
Part अंश
Perception प्रत्यक्ष उपलब्धि
Perpetuation सन्तनन
Periodical नियतकालिक
Personalism व्यक्तिवाद, व्यष्टिवाद
Personalistic Pluralism व्यक्तिमूलक अनेकवाद
Personality व्यक्तित्व
Pessimism दुःखवाद, नैराश्यवाद
Phenomena प्रपञ्च, प्रतिभास, संवृत्ति (बौद्ध दर्शन)
Phenomenal प्रपञ्चात्मक, प्रातिभासिक, संवृत्यात्मक
Phenomenalism प्रपञ्चवाद (काण्ट)
Phenomenology साशयप्रपञ्चवाद (हुजर्ल)
Phenomenal Idealism प्रपञ्चात्मक चिद्वाद
Philology भाषाविज्ञान
Philosophy दर्शन
Philosophical inquiry दार्शनिक जिज्ञासा
Physics भौतिकी
Physico-chemical भौतिक-रासायनिक
Pineal gland मज्जाग्रन्थि
Pleasure प्रेय, सुख
Pluralism अनेकवाद, बहुवाद
Polytheism अनेकेश्वरवाद
Positive निश्चित, स्वीकारात्मक, अस्तिवाची, भावात्मक, धनात्मक, सकारात्मक, अनुकूल, अनुलोम
Positively विधिमुखेन, अस्तिवचनेन, स्वीकारात्मक रूप से
Positivism निश्चितवाद
Positive instance अन्वयात्मक दृष्टान्त
Postulate पूर्वधारणा, स्वीकृत तथ्य
Potential सम्भाव्य, शक्य
Pragmatism व्यवहारवाद, अर्थक्रियावाद
Pragmatic, Pragmatistic व्यावहारिक
Pragmatist व्यवहारवादी, अर्थक्रियावादी
Predecessor पूर्वगामी
Prediction भावीकथन, भविष्यवाणी प्राक्कलन, पूर्वकलन
Pre-established harmony पूर्वस्थापित सामञ्जस्य
Preference अधिमान
Prehension (Whitehead) प्राग्ग्रहण
Premise प्रतिज्ञा, आधारवाक्य
Presentationism बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद, अव्यवहितबोधवाद
Primary qualities मुख्यगुण, प्रधानगुण
Primordial impulse मौल आवेग

Probable सम्भाव्य
Process प्रक्रिया, प्रक्रम
Progressive क्रमश, वर्धमान
Projection विक्षेप
Property रिक्थ सम्पत्ति
Proposition उपस्थापना, प्रतिज्ञप्ति प्रस्थापना
Proletariat श्रमजीवीव्यक्ति
Proton प्राणु
Protoplasm प्ररस
Proof प्रमाण
Pseudo propositions आभासी उपस्थापनाएं
Psychical चैतसिक
Psycho somatic being मानसशारीर प्राणी
Psychoid सत्व
Psychology मनोविज्ञान
Psychological मनोवैज्ञानिक
Pull अभ्याकर्षण
Push अभ्याघात
Pyramid कोणस्तूप

Qualitative गुणगत
Quantitative परिमाणात्मक, मात्रागत

Radical मौल
Rational विबोधात्मक युक्तिसंगत
Rationalism बुद्धिवाद
Rationalist बुद्धिवादी
Reality सत परमार्थ चरमतत्त्व परमतत्त्व मूलतत्त्व वस्तुभूत सत्, सद्भूत अर्थ
Reason विबोध, तर्क, युक्ति
Realism यथार्थवाद
Realist यथार्थवादी
Recessive characteristic पश्चा-पसारी लक्षण, अनुस्मरण
Reduction ad absurdum विसंगति-परिणामी दोष
Reductionism न्यूनीकरण, अपचय-करण, अवव्याख्या
Reflection विमर्श
Reflective thinking विमर्शात्मक चिन्तन
Regeneration पुनरुत्पत्ति
Regressus & infinitum अनवस्था दोष
Regulative ideas नियामक प्रत्यय
Relational सम्बन्धगत, सम्बन्धधर्मी, सम्बन्धमूलक
Relative सापेक्ष
Relativity, सापेक्षतावाद,
Relativism अन्योन्याश्रयात्त्ववाद
Repetitive पुनरावृत्यात्मक
Representational प्रतिरूपात्मक
Representationism बाह्यार्थानुमेयवाद
Representationalism प्रतिरूपवाद
Reproduction प्रजनन (जैवविज्ञान) प्रतिरूप
Responsive प्रतिचारी
Restitution परावर्तन पूर्वावस्था प्रापण
Resultant परिणत परिणाम संघात-जन्य परिणाम
Retrogression विपरीत गति

Scepticism संशयवाद
Sceptic संशयवादी
Secondary qualities गौणगुण, परवर्तीगुण
Secretion उदासर्ग
Selection वरण, प्रवरण
Selective synthesis वरणात्मक संश्लेष
Self आत्मा, स्व, प्रमाता
Self-centredness आत्म-केन्द्रीयता
Self-conscious युक्त, आत्मसंवित्ति-युक्त, स्वविमर्शात्मक, स्वचेतन, स्वसंवित्ति
Self-consciousness आत्मसंवित्ति, आत्मविमर्श, स्वविमर्श, आत्मचेतना
Self consuming स्वत.क्षयित
Self-contradiction आत्मव्याघात, स्वतःव्याघात
Self-determining principle आत्मनियामक तत्त्व
Self-differentiation आत्मेतरत्व
Self-enclosed स्वावेष्टित
Self-evident स्वयंसिद्ध, स्वतः स्पष्ट
Self-existent स्वयंभू
Self-producing स्वतःजनित
Self-protection आत्मरक्षण
Sensation आलोचन
Sensibility आलोचनशक्ति, संवेद्यता
Sense-data or sensa ऐन्द्रिय पुरस्करण
Sense of values इष्टत्वबुद्धि, मूल्यबोध
Sensuous ऐन्द्रिय

Series आवलि, आवली, अनुक्रम, पारम्पर्य, शृंखला
Serial order आवलि-क्रम
Sequence आनुपूर्व्य
Shape आकृति
Singularism अनन्यवाद
Size परिमाण
Solidity घनत्व
Solipsism एकाहंवाद, सर्वाहंवादन, स्वज्ञानवाद
Source उद्गम
Space देश
Spatial दैशिक
Species जाति
Speculative विमर्शात्मक
Spirit आत्मा, चित्
Spiritual आत्मस्वरूप, चित्स्वरूप
Spirituality आध्यात्मिकता
Spontaneity स्वतः प्रवृत्ति
Spontaneous generation स्वतोजनन
Steadiness स्थिरता
Stimulus उत्तेजक, उद्दीपक
Subject प्रमाता, ज्ञाता, ग्राहक
Subjective स्वनिष्ठ, प्रमातृगत, आत्मपरक, व्यक्तिसापेक्ष
Subjectivity स्वनिष्ठता
Subjective Idealism स्वनिष्ठ चिद्वाद, व्यक्तिसापेक्ष चिद्वाद
Sub-conscious अवचेतन
Substance द्रव्य
Substantive विशेष अस्तित्वसूचक
Succession आनुपूर्व्य
Subliminal अवसीम

Subsistent स्वात्मगत
Superject अधिग्राह्य
Superman अतिमानव
Supersensuous इन्द्रियातीत
Supra-personal अतिवैयक्तिक
Survival अवशेष
Survival of the fittest क्षमिष्ठ का अवशेष
Synoptic सामासिक, सम्यक्
Synthesis समाधान, समन्वय, सश्लेष
Synthetic judgement सश्लेषात्मक विभावना
Synthetic priori judgement संश्लेषात्मक विभावना
Synthetic proposition सश्लेषात्मक उपस्थापना
System योजना, सहृति, पद्धति, व्यवस्था

Teleology उद्देशवाद
Teleological उद्देशपरक
Theory मत, वाद, सिद्धान्त
Theory of Parallelism समान्तरवाद
Theory of Interaction or Interactionism परस्पर क्रियावाद
Theism ईश्वरवाद
Theistic Pluralism सेश्वर अनेकवाद
Thesis निधान
Things in themselves स्वलाक्षण्य, वस्तुए अपने यथार्थ रूप म
Time काल
Torpor जडता

Transcendent अतिवर्ती, अनुभवातीत, अनुभव से परे
Transcendence अनिवर्तित्व, अनुभवातीतता
Transcendental Aesthetic अतिवर्ती सवेदन
Transcendental Analytic अतिवर्ती विश्लेषक
Transcendental ego अनुभवातीत अहम्
Transcendental Idealism अतिवर्ती चिद्वाद
Transcendental Unity of Apperception आत्मसविति का अतिवर्ती ऐक्य
Triad त्रिक
Tropism आवर्तना, अभिचरण
Tychism सम्भावितावाद

Unconditional अनौपाधिक
Unconscious अचेतन
Understanding (काण्ट) उपबोध
Unitarism एकैववाद
Universal (noun) सामान्य
Universal (adj) अभिव्यापी, सर्वगत
Universality अभिव्यापित्व
Universal Consciousness चित् विज्ञान
Use प्रयोजन, उपयोग
Utility उपयोगिता
Utilitarianism उपयोगितावाद

Valid सगत, युक्तिपूर्ण, यौक्तिक
Validity औचित्य, प्रामाण्य, युक्तिता

Value इष्ट, इष्टत्व, अर्हा, मूल्य
Valuational इष्टपरक, मूल्यपरक
Variation विभेद
Varying contents परिणमनशीलतत्व
Vector निदेश
Verification सत्यापन
Vertebrate पृष्ठवंशी
Vitalism जीवनवाद
Volition समीहा, संकल्प
Volitional समीहात्मक, संकल्पात्मक
Weight भार
Whole अंशी, पूर्ण
Will समीहा, इच्छाशक्ति, संकल्प, वांछा
Will to live अभिनिवेश
Wisdom प्रज्ञान
Wonder विस्मय
Working hypothesis कामचलाऊ अभ्युपगम